भाषा-शास्त्र प्रवेशिका

भाषा-शास्त्र प्रवेशिका



डा० मोतीलाल गुप्त
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर



राजस्थान प्रकाशन
जयपुर-२

[चार रुपया

* प्रकाशक :

राजस्थान प्रकाशन,
त्रिपोलिया बाजार,
जयपुर-२

* प्रथमावृत्ति :

१९७०

* मूल्य :

चार रुपया

* मुद्रक :

राजकमल प्रिन्टर्स,
किशनपोल बाजार,
जयपुर-३

भाषा-शास्त्र प्रवेशिका
और
हिन्दी-भाषा

निवेदन

१ उच्च कक्षा के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए 'भापा' के साथ उसके 'शास्त्र' का किंचित ज्ञान आवश्यक है। हम 'भापा' का ज्ञान नहीं करते, 'साहित्य' पर जा पहुँचते हैं। परिणाम यह होता है कि 'साहित्य' का भी सच्चा आनन्द नहीं, प्राप्त कर सकते, भापा में गति तो कुंठित होती ही है। वैसे भी भापा की सामान्य बातें जानना बहुत ही आवश्यक और उपयोगी होता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए आजकल के विश्वविद्यालयीय पाठ्य-क्रम में 'भापा-शास्त्र' भी रखा जाता है। पहले तो भापा-विज्ञान अथवा भापा-शास्त्र का प्रश्न-पत्र केवल एम. ए. कक्षाओं में ही रखा जाता था, परन्तु अब डिग्री-कक्षाओं में भी इस विपय को रखने की आवश्यकता समझी गई है।

२ डिग्री कक्षाओं में २,३ वर्प पढ़ने के उपरान्त बुद्धि कुछ परिपक्व हो जाती है और भापा-ज्ञान की क्षमता भी बढ़ जाती है, अतः स्नातकोत्तर कक्षाओं में जब भापा-विज्ञान पढ़ने का उपक्रम होता है तो, सामान्यतः विद्यार्थी को कठिनाई नही होनी चाहिए। परन्तु, कई कारणों से, भापा-विज्ञान का विषय नीरस समझा जाता है, और इस प्रश्न-पत्र को अन्य प्रश्न-पत्रों की अपेक्षा कठिन बताया जाता है। अध्यापक, यथासंभव चेष्टा करता है कि विपय को ग्राह्य बनाएं और 'कठिनाई के भूत' को विलुप्त कर दें, किन्तु जो धारणा चल निकलती है उसे अन्यथा करना कुछ सरल नहीं होता। भाषा-विज्ञान के अध्यापक को भी 'शुष्क', 'नीरस', 'हृदयहीन' न जाने कितनी उपाधियां दे दी जाती हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा भी इन विशेपणों से नहीं बच सके, परन्तु मुझे व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर मालूम है कि भापा-विज्ञान का शिक्षक इन विशेपणों के, प्रायः, प्रतिकूल होता है। वैसे भी विपय काफी सरस है, परन्तु 'भ्रान्ति' का निराकरण कैसे हो। अब कुछ समय से यह विपय डिग्री-कक्षाओं में भी प्रस्तावित किया जाने लगा है, और स्पप्ट है कि स्नातकोत्तर-कक्षाओं में पढ़ने वाले अग्रजों को अब डिग्री के अनुजों पर भी जमना चाहिए। डिग्री-कक्षा के विद्यार्थी इस विपय से घबराते हैं, कभी-कभी तो आतंकित होते हैं। उन्ही बच्चों के लाभार्थ यह प्रयास किया जा रहा है।

इस छोटी सी पुस्तक मे मैंने इस बात की चेष्टा की है कि भाषा और विषय-प्रतिपादन दोनों मे सरलता रखी जाए, पर आवश्यक बातों का ज्ञान अच्छे रूप में हो जाए। मेरे इस प्रयास से दो प्रकार के लाभों की संभावना है—पहला तो यह कि डिग्री-कक्षा के विद्यार्थी विषय को अच्छी तरह समझ सके। 'रटने' से 'समझना' अधिक उपयोगी होता है और मेरा यह प्रयास रहा है कि रटे नही, समझे। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आधुनिकतम शिक्षा-साधनो का आश्रय लिया गया है। दूसरा लाभ यह होगा कि जो विद्यार्थी एम. ए. कक्षाओं मे इस विषय को पढेगे उनकी विषय-संबंधी पृष्ठ-भूमि उपयुक्त कोटि की होगी और विषय को कुछ विस्तार और गहराई के साथ पढने में सहायता मिलेगी। विद्यार्थियो के साथ हमारे प्रिय अध्यापक बंधुओ को भी थोड़ी आसानी होगी—उन्हे विद्यार्थियों के रूप मे जो अध्येता मिलेगे उनका समुचित विकास किया जा सकेगा।

०/३ इस पुस्तक मे मैंने अध्ययन और अध्यापन दोनों दृष्टि-बिन्दुओं पर ध्यान रखा है। यदि मै यह कहूँ कि इस पुस्तक मात्र के पढ़ने से वांछनीय फल की प्राप्ति होगी तो, शायद, उचित न होगा। पुस्तक के साथ-साथ कक्षा में किया गया कार्य भी आवश्यक है और अध्यापक का व्यक्तित्व तो पग-पग पर अपेक्षित है। वैसे विषय को सरलतम रूप मे रखने की चेष्टा की गई है और इस बात का भी ध्यान रखा है कि भाषा-विज्ञान का जो 'काठिन्य' विद्यार्थियों के मस्तिष्क मे स्थान पा गया है, वह दूर हो जाए। अध्यापक का तो सर्वदा ही यह प्रयत्न होता है कि विद्यार्थियों का कल्याण हो और मैंने अपने गत ३६ वर्षो के अध्यापन-काल मे इस बात को अच्छी तरह समझने की कोशिश की है। यदि मेरे इस प्रयास के फलस्वरूप हमारे प्रिय विद्यार्थी इस विषय मे भी कुछ रस लेने लगेगे तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

—मोतीलाल गुप्त

अनुक्रम



भाषा

१/१ कल्पना कीजिए आज से लाखों वर्ष पहले की, जब पृथ्वी पर कोई एक ही प्राणी रहा होगा। हम यह तो नहीं कह सकते कि वह हमारी ही आकृति का रहा हो, अथवा अन्य किसी आकृति का, पर यह मान लीजिए कि उसके मुख आदि अवयव रहे होंगे, और उसमें यह शक्ति भी रही होगी कि मुख से कुछ ध्वनियां कर सके। उसने क्या और किस प्रकार की ध्वनियां की होंगी, यह भी केवल अनुमान का विषय है, पर ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि उस शब्द में, या कहिए ध्वनियों में, उस प्राणी की आत्माभिव्यक्ति रही होगी। उदर-पूर्ति, मौसम से बचाव, सुख-दुख का प्रकाशन आदि ही उन ध्वनियों का ध्येय रहा होगा। पर वह एकाकी कितनी घुटन का अनुभव करता होगा; और उसकी कामना रही होगी कि वह कम से कम एक साथी और प्राप्त करे। पुरानी कहानियों, पुराणों, धर्म-ग्रन्थों और दन्त-कथाओं से मालूम होता है कि एक से दो हो गए। प्राणी के जीवन में बड़ा परिवर्तन आया, उसे एक साथी मिला। वे दोनों प्यार से रह सकते थे, झगड़ सकते थे, साथ-साथ भोजन की खोज कर सकते थे, बचाव कर सकते थे और इस प्रकार के कई अन्य कार्य। इन सबके करने में पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता है। परन्तु यह सहयोग कैसे प्राप्त हो सकता है, जब तक एक की बात दूसरा न जाने। अतएव इस बात की आवश्यकता हुई कि एक के मन की बात दूसरा जाने।

१/२ मेरी बात दूसरा जान जाए, या मैं दूसरे की बात जान जाऊँ—यहीं से विचार-विनिमय का सूत्रपात होता है: विचाराभिव्यक्ति की बात सामने आती है। निःसंदेह, मन में विचार उठने पर एक ने दूसरे पर प्रकाशित करने के लिए किसी युक्ति की खोज की होगी। इसके लिए व्यक्ति के पास सामान्यतः दो साधन हैं—

(१) शरीर और शरीर के अवयव,

(२) बाह्य उपादान।

इनके द्वारा ही वह इस बात की चेष्टा कर सकता है कि उसका विचार दूसरे तक पहुंच जाए। भगवान ने शरीर में हमें जितने अवयव दिए हैं उनमें से भी हम अनेक का उपयोग कर सकते हैं। यथा—

(१) हम विविध प्रकार की ध्वनियाँ कर सकते हैं। फूँक से लेकर व्यक्त ध्वनि तक हमारे काम में आ सकते हैं। हवा को बाहर निकाल कर अथवा भीतर लेजाकर ध्वनियाँ की जा सकती हैं।

(२) शरीर के अन्य अवयवों से हम इशारे कर सकते हैं—

(क) आंखों के इशारे आप सभी जानते हैं; जो शब्द नहीं कर सकते वे आंखों के इशारे कर सकते हैं।

(ख) हाथ, पैर, आदि से किए गए संकेत—
अंगुलियों से गिनती गिनाएँ, पैर से आगे बढ़ाएँ, गुस्सा दिखाएँ, हाथ से बैठाएँ, उठाएँ,-तालियों से विविध विचार व्यक्त करें आदि।

(ग) मुख की आकृति द्वारा अनेक प्रकार के भाव-प्रसन्नता, क्रोध, आदेश, लज्जा, स्वीकृति, अस्वीकृति आदि।

(घ) भुजा, छाती, कान, नाक, सिर, बाल, और अनेक अवयव विविध प्रकार की बातें कहते हैं।

बाह्य उपादानों की संख्या तो अगणित है—हमें जो कुछ भी मिले, उससे काम लिया जा सकता है। पेड़, पत्थर, पानी, आटे, हवा, मिट्टी आदि सभी हमारे काम में आते रहे हैं, हमारे विचारों को दूसरों तक पहुँचाने मे मदद करते रहे हैं। और आज के युग में चावल, हल्दी, सुपारी, कबूतर, डिब्बी, गुड़, गाय, कौआ, बिल्ली न जाने कितने अन्य उपादान हमारी सहायता करते हैं। हम इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि यदि हम वाणीहीन भी हो जाएं तो ये बाहरी चीजें, काफी हद तक, विचार विनिमय में, हमारी सहायता कर सकती हैं। आज भी हम इन सबसे सहायता लेते हैं और निरंतर लेते रहेंगे। ये हमारे विचार-प्रकाशन को सशक्त और सुगम बनाते हैं।

१/३ जब हम विचारों के आदान-प्रदान की बातें करते हैं, तो हमारे सामने एक बात स्पष्ट रूप में आती है। ऊपर जिन साधनों का वर्णन किया गया है वे एक सीमा तक ही हमारी बात दूसरे तक पहुंचा सकते हैं। यदि हम यह कहना चाहें—"कल हम अपने बच्चों को साथ लेकर तांगे द्वारा गोठ में जाएंगें" तो कई कठिनाइयाँ सामने आएंगी। बहुत पहले भी मनुष्य के सामने ये कठिनाइयाँ आई होंगी, और उसने सोचा होगा, 'क्या करना चाहिए ?' मनुष्य के पास सबसे शक्तिशाली साधन 'शब्द' है और इस 'शब्द' को यद्यपि हाथ, पैर आदि के द्वारा भी किया जा सकता है, परन्तु मुख के द्वारा किया गया शब्द अधिक उपयोगी होता है। मुख से निकला हुआ शब्द एक ऐसा संकेत हैं जो दूर तक सुना जा सकता है, जो दूसरे का ध्यान आकृष्ट करता है,

जिसमें सबसे अधिक विविधता है। इन तीनों कारणों से मनुष्य का ध्यान उधर गया होगा और उसने मुख से निकली ध्वनियों का उपयोग किया होगा। ध्वनि की सबसे बड़ी बात यह है कि वह सुनाई देनी चाहिए, और स्पष्ट होनी चाहिए—यदि ये दोनों बातें नहीं होंगी तो हम अपनी बात कैसे कहेंगे। पर एक बात यह भी है कि हम ऊल-जलूल न बोलें, ऐसा बोलें जिसका अर्थ हो और वह अर्थ ऐसा हो जिसको दूसरा भी समझ सके। यदि हमने एक भाषा बोली और सामने वाला इसे नहीं समझता है, तो क्या लाभ होगा। आपने सुनी होगी वह कहानी—

काबुल गये मुगल बन आए, बोलें मधुरी बानी।
'आब, आब' कह मर गए, सिरहाने रखा 'पानी'॥

पर एक सवाल और उठता है—सभी भाषाएं एकसी क्यों नहीं होतीं? इसका उत्तर इतना ही है कि अपनी सुविधा, परिस्थिति और साधनों के अनुसार भाषा का निर्माण शुरू हुआ होगा, और यही क्रम निरंतर चलता रहता है। एक समय रहा होगा जब विविध प्रकार की अव्यवस्थित ध्वनियां रही होंगी परन्तु उनकी व्यवस्था करना आवश्यक हुआ होगा। अतः कई बातें एकत्र हो गईं जो भाषा को उसका स्वरूप प्रदान करती हैं—

(१) मुख से निकले ध्वनि-संकेत जो सुनने वाले तक पहुंच सकें।
(२) व्यक्त और स्पष्ट ध्वनि संकेत।
(३) सार्थक।
(४) वर्ग विशेष में प्रचलित।
(५) सुविधा, परिस्थिति और साधन विशेष के अनुरूप।
(६) व्यवस्थित तथा विश्लेषण की क्षमता सहित।

जब ये सभी उपादान मिल कर एक सृष्टि करेंगे तो उसे 'भाषा' की संज्ञा दी जा सकेगी।

१/४ 'भाषा' का संबंध 'भाष' धातु से है। 'भाष्' का अर्थ है 'बोलना'। इसमें बोलना तो होता ही है, पर विशेष प्रकार का। इन सभी बातों का ध्यान रखते हुए विद्वानों ने भाषा की परिभाषा देने की चेष्टा की है, जो कुछ इस प्रकार हो सकती है:—

भाषा उच्चरित एवं व्यक्त ध्वनि-संकेतों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा एक वर्ग के लोग आपस में विचारों का विनिमय करते हैं। यहां १. ध्वनि- संकेत, २. व्यक्त, ३. व्यवस्था, ४. एक वर्ग, ५. उच्चरित—सभी द्रष्टव्य हैं। इनमें प्रायः वे सभी बातें आजाती हैं, जिनकी ओर १/३ में संकेत किया गया था। हम ध्वनि-

संकेत करें और यदि वे व्यक्त तथा स्पष्ट न हों तो भाषा नहीं होगी। स्पष्ट और व्यक्त भी हों तो भी व्यवस्था के बिना भाषा नहीं बनेगी। व्यवस्था भी हो तो एक वर्ग का होना आवश्यक है–अर्थात् दोनों के बीच समझे जाने वाली हो। इसमें ध्वनि-संकेतों का उच्चरित होना भी आवश्यक है, क्योंकि ताली बजाना, पैर पटकना आदि भाषा नहीं होते। उच्चारण के अवयवों का उपयोग करते हुए ध्वनि निकालनी होती है। साथ ही हम यह भी स्मरण रखें कि यद्यपि विचारों को प्रकाशित करने के अनेक साधन होते हैं और उन्हें हम सर्वदा काम में लाते हैं, परन्तु 'भाषा' नाम से अभिहित साधन उच्चरित होने की अपेक्षा करता है।

१/५ एक प्रश्न और सामने आता है। क्या लिखा हुआ भाषा नहीं होता? यदि ऐसा हो तब तो सारा वाङ्मय ही समाप्त हो जाए; यदि ऐसा नहीं तो ऊपर दी गई परिभाषा में इस बात को शामिल न करने का कारण क्या है। बात कुछ इस प्रकार है–भाषा के दो रूप होते हैं—

(१) उच्चरित तथा
(२) लिखित

जब हम 'भाषा' की बात करते हैं तो हम अपना ध्यान 'उच्चरित' तक ही सीमित रखते हैं—यही प्रारम्भ में विचाराभिव्यक्ति का साधन रहा होगा। 'लिखित' साधन तो बहुत समय पश्चात् काम में आने लगा होगा। एक प्रकार से यह एक गौण साधन है जिसका आश्रय स्थान और समय की दूरी के कारण लेना पड़ता है। अतः भाषा-शास्त्र में 'भाषा' पर विचार करते हुए प्रायः 'उच्चरित' भाषा को ही ध्यान में रखा जाता है। यह एक महत्वपूर्ण बात है और इसको सर्वदा ध्यान में रखना चाहिए।

याद करें :

(१) भाषा-विचाराभिव्यक्ति का एक साधन है।
(२) भाषा में ५ बातें हैं—

१. उच्चरित	४. वर्ग विशेष हेतु
२. व्यक्त	५. व्यवस्थित
३. सार्थक	(विश्लेषण के योग्य)

(३) भाषा-शास्त्र में 'उच्चरित' भाषा पर ही विचार होता है।

१/६ अब 'भाषा' का स्वरूप समझने की चेष्टा करें। स्वरूप में कई बातें आती हैं—आकृति किस प्रकार की है? प्रकृति कैसी है? किस ओर प्रवृत्ति हैं? यदि इन तीनों बातों का पता लग जाय तो व्यक्ति, वस्तु अथवा किसी अन्य सत्ता का पूरा पता लग जाए। मनुष्य का स्वरूप ही लीजिए—

आकृति—शरीर के अवयव, लम्बाई-मुटाई-ऊंचाई, रंग-रूप।

प्रकृति—जैसी भी हो—क्षमाशील, क्रोधी, प्रसन्नचित्त; खाद्य-पेय पदार्थों में रुचि; गर्मी-सर्दी सहन करने की शक्ति आदि।

प्रवृत्ति—किस ओर गति है? क्या करता है? किधर प्रेरित होता है? 'भाषा' भी एक सजीव व्यक्तित्व है, अतः इसमें इन सभी बातों को ढूंढा जा सकता है।

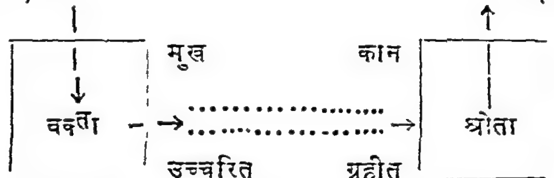
१/७ भाषा का स्वरूप आंखों का विषय नहीं हैं, कानों का विषय है। हाथों से उसका स्पर्श भी नहीं किया जा सकता परन्तु उसका प्रभाव अनुभव किया जाता है। उसका चलना-फिरना देख नहीं सकते परन्तु वह गतिशील ही नहीं परिवर्तनशील भी है। अतः भाषा के स्वरूप का ज्ञान उसकी कुछ विशेषताओं के आधार पर हो सकता है। इन विशेषताओं में से कुछ को तो बताया जा चुका है जैसे उसका मुख से उच्चरित होकर रूप धारण करना, कानों के माध्यम से उसके अस्तित्व का पता लगाना, व्यक्त और स्पष्ट होना, व्यवस्थित होना, एक वर्ग से दूसरे वर्ग में स्वरूप बदलना, हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी होना, अन्य साधनों की अपेक्षा करना आदि। उसके स्वरूप की अन्य बातों का पता तब लगेगा जब हम उसकी प्रकृति तथा प्रवृत्ति को जानें। जैसा हम देख चुके है 'आकार' ही मनुष्य नहीं होता, आकार के अतिरिक्त और भी कई बातें हैं—इसी प्रकार भाषा की भी कई और बातें हैं। स्थूल पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान काफी सीमा तक उसके आकार से हो सकता है, पर स्थूलता के अभाव में कुछ अन्य बातें ही उसके स्वरूप का निर्देश करती हैं। इसलिए 'भाषा' के प्रसंग में उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति को जानना उसके स्वरूप-ज्ञान में अधिक सहायक होगा।

१/८ भाषा की प्रकृति के बारे में एक बात जानना बहुत आवश्यक है। 'भाषा पागलपन नहीं होती, व्यवस्थित और सार्थक होती है।' यह व्यवस्था और अर्थ कहां से आते हैं? शीघ्र ही उत्तर मिलेगा, 'मन अथवा मस्तिष्क से'। तो क्या भाषा 'मन' में ही स्थित रह जाती है? तो उत्तर मिलेगा, 'नहीं। उच्चरित होकर प्रत्यक्ष होती है, कानों द्वारा इसका आभास होता है।' इन उत्तरों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भाषा के दो आधार हैं—

(१) मानसिक
(२) भौतिक।

'मानसिक' आधार सोचने, व्यवस्थित करने, अवसरानुकूल बनाने आदि में भाषा का पोषक होता है, और 'भौतिक' वे ध्वनियाँ हैं जो कान के द्वारा ग्रहण की

जाती हैं। बिना सोचे बोलना पागलपन है, बिना बोले भाषा बेकार है। भाषा के लिए दोनों बातों की आवश्यकता है और जब तक ये दोनों बातें नहीं होंगी तब तक विचार-विनिमय संभव नहीं होगा।



इसको यों समझिये। 'वक्ता' के मन में कोई बात आई, उसने उसे व्यवस्थित कर मुख द्वारा उच्चरित किया। 'श्रोता' ने कान द्वारा उस ध्वनि को ग्रहण किया, और श्रोता के मन ने इष्टार्थ का ग्रहण कर लिया। विचार-प्रकाशन का एक पक्ष समाप्त हुआ। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा की यह प्रकृति है कि इन दोनों आधारों के बिना उसका स्वरूप संभव नहीं।

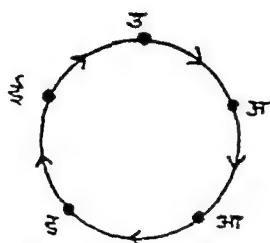
१/८/१ भाषा के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि वह किसी को जन्म के साथ नहीं मिलती। उच्चारण के अवयव अवश्य मिलते हैं, जिनसे ध्वनियां सम्भव होती हैं, परन्तु 'भाषा' नहीं मिलती। भाषा का तो अर्जन करना पड़ता है, उसे सीखना पड़ता है। अब दो प्रश्न सामने आए:—

(१) भाषा का अर्जन कहां करते हैं ?

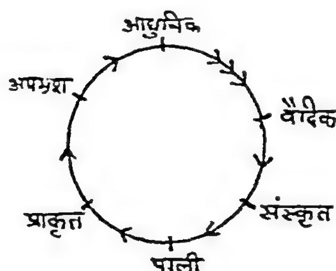
(२) भाषा किस प्रकार सीखते हैं ?

१/८/१/१ भाषा का अर्जन समाज में होता है। भाषा एक सामाजिक वस्तु है, समाज में ही उसकी प्रतिष्ठा है समाज में ही उसका विकास है, समाज ही उसका प्रयोग-उपयोग करता है, समाज ही उसको रूप प्रदान करता है। अतः उसको अर्जन करने हेतु समाज ही एक मात्र स्थान है। पर इस समाज की अपनी सीमाएं हैं:—बच्चे के लिए उसके माता-पिता, भाई-बहन आदि ही उसका समाज है; विद्यार्थी के लिए उसका विद्यालय, शिक्षक और सहपाठी समाज है; बहुत से व्यक्तियों के लिए उनके आस-पास के व्यक्ति ही समाज हैं इसका परिणाम यह होता है कि समाज के ही अनुरूप भाषा सीखी जाती है। मैं ब्रजभाषा बोलता था, मेरा पुत्र राजस्थानी बोलने लगा और मेरा पौत्र पंजाबी बोलता है, क्योंकि वह श्रीगंगानगर में है। जैसा समाज वैसी भाषा। पिता की भाषा पुत्र बोले— यह आवश्यक नहीं। यदि मेरे चार पुत्र होते, और वे चार

प्रश्न है कि उसकी गति किस प्रकार की होती है। कोई कहते हैं भाषा चक्रवत् चलती है,



'अ' से लेकर 'आ', 'इ', 'ई', 'उ' पर होती हुई पुन: 'अ' पर आजाती है। इसी को कुछ लोग भाषा-चक्र कहते हैं। यदि कोई मुझसे यह पूछे कि,



'क्या "वैदिक" भाषा फिर आने को है?' 'क्या कुछ सहस्राब्दियों के बाद पुन: 'वैदिक' भाषा होगी ?' तो मेरा उत्तर नकारात्मकता लिए हुए ही हो सकता है, क्योंकि ऐसे कुछ लक्षण दिखाई नही देते। हां, यदि कोई यह कहे कि संयोगात्मक (मूल पदों के साथ संबंध पद का मिला होना—जैसे 'रामस्य') से वियोगात्मक (मूल पदों से संबध पद का प्रथक् होना—जैसे राम का) और पुन: संयोगात्मक (जैसे बोलने में 'राम का' से 'राम्का') तो किसी सीमा तक यह कथन ग्राह्य हो सकता है। कुछ लोग कहते हैं कि परिवर्तन का यह क्रम चक्र-रूप में न होकर सीधी रेखा के रूप में होता है, क्योंकि भाषा का बदलाव निरंतर अधिक घना होता जाता है, और इसका कोई अंत दिखाई नहीं देता

आगे बढ़ता क्रम

→——→——→——→——→——→——→——

वैदिक संस्कृत पाली प्राकृत अपभ्रंश आधुनिक

भारतीय आर्य-भाषाएं

इस परिवर्तन में कोई रुकावट नहीं है। कुछ भी हो यह एक तथ्य है कि भाषा निरंतर बदलती रहती है, और ऊपर जो बात सीधी रेखा के रूप में बताई गई है उससे यह परिणाम निकलता है कि इस परिवर्तन का कोई अंत नहीं होगा, और भाषा का अन्तिम स्वरूप क्या होगा—यह कोई नहीं बता सकता। भाषा-परिवर्तन के कई कारण है, जिनमें मनुष्य और मनुष्य का समाज तथा उसकी परिस्थितियां प्रमुख हैं। जब ये सब बदलते रहते हैं तो भाषा क्यों न बदले ? सैद्धान्तिक रूप में तो यह कहा जाता है कि—

(१) भाषा प्रति क्षण बदलती है।

(२) भाषा प्रति पग पर बदलती है।

(३) एक व्यक्ति में भी भाषा प्रति क्षण परिवर्तित होती रहती है।

१/८/२/२ भाषा की गति में एक और बात देखी गई है कि बोलने वाले सर्वदा इस बात की चेष्टा करते हैं कि यथासंभव भाषा को आसान बनाएँ-शब्दों की आसानी, वाक्यों की आसानी, अर्थ-द्योतन की आसानी आदि। पर व्यवहार में कुछ उल्टा ही दिखाई देता है—लोग कठिन शब्द, क्लिष्ट वाक्य और चक्करदार अर्थ की ओर जाते हुए देखे जाते हैं। इसका मूल कारण यह है कि यह कठिनाई उन लोगों द्वारा उपस्थित की जाती है जो भाषा को अपने ढंग से अलंकृत करना चाहते हैं। इसका प्रारंभ तो लिखित भाषा से होता है पर इसकी प्रतिध्वनि उच्चरित भाषा में भी होती रहती है। परिणाम यह होता है कि 'भाषा' का सीधा सिद्धान्त कुछ विकृत होता सा दिखाई देता है। यदि भाषा का उच्चरित रूप ही रहे और उसका उद्देश्य केवल व्यावहारिक ही हो तो 'कठिन से सरल' वाला सिद्धांत चल सकता है। यह भी देखा गया है कि प्रयोग करने वाले भाषा के द्वारा सूक्ष्म विचारों को भी प्रकाशित करना चाहते हैं। भाषा-उत्पत्ति के मूल में ही यह भावना रही होगी कि जो स्थूल नहीं हैं उन्हें किस प्रकार प्रकाशित किया जाए, और जब एक बार यह साधन प्राप्त हो गया तो इस बात की चेष्टा करना स्वाभाविक है कि भाषा को वह क्षमता प्रदान की जाए जिससे वह अति सूक्ष्म भावों को प्रकाशित करने का माध्यम बन सके। इसी को मानकर कुछ लोग कहते हैं कि भाषा अधिकाधिक शक्तिशाली होती जाती है, उसकी क्षमता बढ़ती जाती है, वह प्रौढ़ होती जाती है, उसमें गुरुत्व आता जाता है, वह समृद्ध होती जाती है आदि आदि। पर मूल बात तो यही है कि किसी भी दिशा में क्यों न हो, किसी भी प्रकार से क्यों न हो वह परिवर्तित होती जाती है, और परिवर्तन का यह क्रम सतत् है।

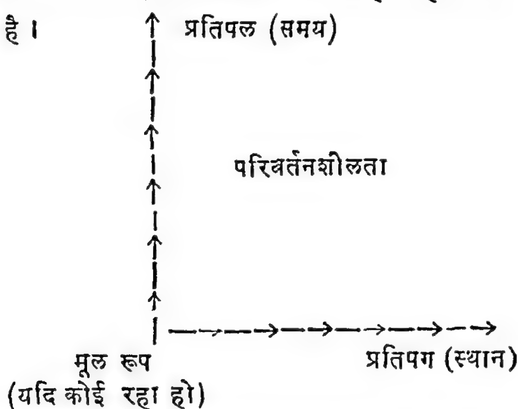
भाषा की प्रवृत्ति के बारे में याद रखें—

(१) भाषा चिर परिवर्तनशील है।

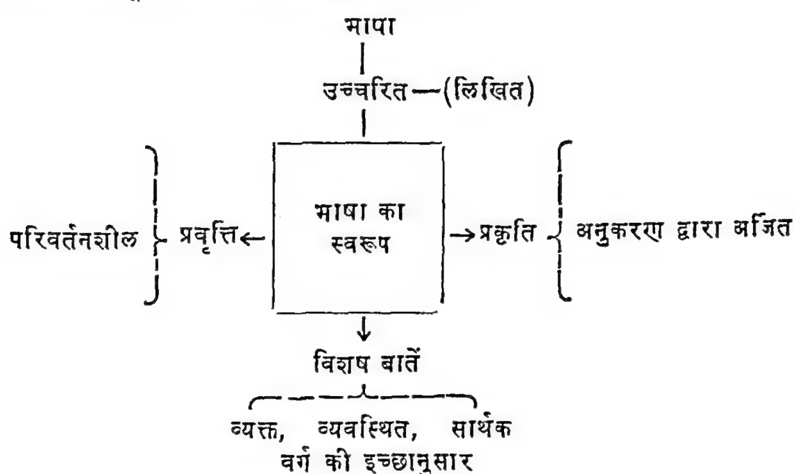
(२) परिवर्तन प्राय: सीधी रेखा के रूप में है अतः अंतिम स्वरूप नहीं हो सकता।

(३) सामान्य सिद्धान्त 'तो कठिन से सरल' की ओर है पर लिखित रूप कुछ विकृतियां उपस्थित कर देता है।

(४) सैद्धान्तिक रूप में भाषा प्रति पग, प्रति क्षण परिवर्तित होती है इसे इस प्रकार देख सकते है।



प्रकृति तथा प्रवृत्ति दोनों को मिलाले तो सामान्य विशेषताओं के साथ मिल कर 'भाषा' का पूर्ण स्वरूप उपस्थित हो जाता है।



अब तो आप इन दो प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे—

(१) भाषा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

(२) विचार-प्रकाशन की क्रिया पर अपने विचार लिखिए।

—:०:—

२ | भाषा की उत्पत्ति

२/१ भाषा की उपयोगिता और उसके स्वरूप को जानने के उपरान्त एक प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है कि भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। जो वस्तु हमारे सामने है, जिसका हम प्रतिदिन उपयोग करते हैं, जो हमारे सामाजिक जीवन का आवश्यक अंग है, जिसके बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते-उसके संबंध में यह जानना तो बहुत ही स्वाभाविक है कि इसकी उत्पत्ति कैसे हुई। हमें भाषा कहां से और किस प्रकार मिली, 'उत्पत्ति' की बात बड़ी विचित्र है। हम जानना तो चाहते हैं परन्तु अनेक प्रसंगों में 'उत्पत्ति' संबंधी उत्तर नहीं मिल पाता। सहस्राब्दियों से विद्वानों और चिन्तकों के सामने यह भी प्रश्न रहा है कि मनुष्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। अनेक विचारकों ने इन पर विचार किया और अपने सिद्धान्त बताए। भारत में तो वैदिक काल से अब तक विचार-विमर्श होता रहा है, और अनेक सिद्धान्तों के द्वारा जगतोत्पत्ति के संबंध में विचार किया है। 'भाषा' भी बहुत पुरानी है। 'मनुष्य' से कुछ ही कम पुरानी समझिए। जब 'मनुष्य' या 'प्राणी' एक से दो हुआ होगा, तभी से 'भाषा' की आवश्यकता रही होगी और उसी समय 'भाषा' की उत्पत्ति हुई होगी। पर कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर इतना सरल नहीं है। 'भाषा' बहुत समय से 'मनुष्य' के साथ चलती आई है, वह हमारा अंग बन गई है, उससे पृथक् हमारा अस्तित्व ही नहीं, और न उसके हमसे अलग होने की संभावना है। इसलिए कुछ लोग यह मानते हैं कि इस उत्पत्ति वाले प्रश्न पर यदि मौन रहा जाए तो उत्तम है। भाषा के इस पक्ष पर इतना विचार हुआ है कि 'भाषा-वैज्ञानिकों' की एक परिषद् ने तो 'भाषा-उत्पत्ति' विषय पर विचार करना वर्जित कर दिया और निर्णय लिया कि इस प्रश्न पर विचार कर समय का दुरुपयोग न किया जाए। पर इस निर्णय से हमारे छात्रों की जिज्ञासा शान्त नहीं होगी, अतः संक्षेप में कुछ विचार प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

२/२ 'उत्पत्ति' के संबंध में एक मान्यता सर्वदा से चलती आई है और आज भी कुछ लोग कभी कभी कह देते हैं कि अन्य सत्ताओं की तरह भाषा की उत्पत्ति भी भगवान से हुई। परमात्मा ने जैसे सबको बनाया वैसे ही भाषा भी

बना दी। वायु, जल, आकाश, अग्नि तथा पृथ्वी के बनाने वाले ने यह भी उचित समझा कि भाषा भी बना दी जाए। पर जब मनुष्य एक प्रकार का बनाया तो भाषा इतने प्रकार की क्यों? सभी लोग एकसी भाषा क्यों नहीं बोलते? राष्ट्रीय क्या अंतर्राष्ट्रीय भाषा का भी कोई प्रश्न नहीं उठता और भाषा की एकता पर संपूर्ण विश्व के लोग 'भाई-भाई' की कल्पना को साकार कर पाते। पर ऐसा नहीं है। अलग-अलग वर्ग अलग-अलग भाषाएं बोलते हैं, और आजकल इस प्रकार के सिद्धान्त को कोई मानता भी नहीं, चाहे वह आस्तिक हो या नास्तिक। इस सिद्धान्त के पीछे धार्मिक भावना मालुम होती है, तभी तो कोई ब्रह्मा के मुख से इसकी उत्पत्ति बताते हैं और कोई अल्लाताला के प्रथम शब्दों में इसका अस्तित्व देखते हैं। पर इस प्रकार समाधान नहीं होता, और भाषा-उत्पत्ति के विषय में अन्य कई प्रकार से सोचा जाता है।

२/३/१ यह सर्वविदित है कि भाषा का संबंध विविध प्रकार की ध्वनियों से है। किसी भी उच्चरित भाषा में कुछ व्यक्त ध्वनि-संकेत होते हैं, जिनका व्यवस्थित समुच्चय भाषा की सत्ता स्थापित करता है। भाषा का मूल ध्वनि में है, अतः अनेक विद्वानों ने इस बात पर विचार किया कि किस प्रकार की ध्वनि से भाषा को उसका स्वरूप प्राप्त हुआ। प्रत्येक भाषा में ऐसे अनेक शब्द होते हैं जिनका उद्‌गम उनसे संबंधित ध्वनि से हो जाता है। कुछ शब्द देखिए:--

चपड़-चपड़	ज्यादा चपड़-चपड़ क्यों करते हो?
सरपट	मेरे कहते ही वह सरपट दौड़ गया।
धक्कम-धक्का	मेले की धक्कम-धक्का देखकर मैं तो घबड़ा गया।
ताबड़-तोड़	उसने ताबड़-तोड़ तीन चार तो लगा ही दिए।
धप्प	वह धप्प से बैठ गया।

इन शब्दों में भी क्रिया का द्योतन बड़ी खूबी से होता है। तनिक तमाचा, लप्पड़, थप्पड़, झापड़, चांटा, चपत, धौल शब्दों को देखिए। सामान्यतः इन सबका अर्थ एक ही होता है, परन्तु सभी के अर्थो में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है।

ये शब्द उस ध्वनि पर आधारित हैं जो इनसे संबंधित क्रिया के करने में होता है। एक और शब्द देखिए:--

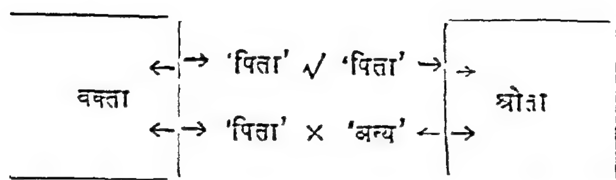
'गिरना' को संस्कृत में 'पत्' धातु से बताया जाता है।

'पत्' से पत्ता, पत्र, पत्रक, पाती, पतिया, पतला, पत्ते (ताश के) पातरा (अदरक के) पत्तर (चांदी-सोने का) पत्तल (पत्तों की) पतेली, पत्रा (पंचांग), पतित,

पत्ती, पातक, पातकी, पतझड़, पत्री (जन्म-पत्री), पात, पतौड़े (पत्ती युक्त पकोड़े) पतन, आदि अनेक शब्द उद्भूत हैं और विभिन्न अर्थों में लिए जाते हैं, परन्तु सब शब्दों के मूल में वही 'पत्ता' है जो पेड़ से गिरने पर 'पत्' जैसा शब्द करता है।

२/३/२ इसी प्रकार श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्रहीत अनेक ध्वनियां हैं जो हमें शब्दों के रूप समझने में सहायता प्रदान करती हैं। यह भी एक विचारणीय विषय है कि मूल शब्द जाने किस ध्वनि से किस रूप में आरंभ हुआ होगा और आज विभिन्न परिस्थितियों के फलस्वरूप इतना परिवर्तित होगया कि मूल तक पहुंचने में बड़ी कठिनाई होती है। कभी-कभी तो किसी शब्द के मूल-स्वरूप तक पहुंचना नितांत असंभव हो जाता है। फिर भी यह बहुत कुछ संभव दिखाई देता है कि अनेक शब्दों का संबंध ध्वनियों से है।

२/४ भाषा-उत्पत्ति के इस सिद्धांत में तो कुछ भी तथ्य नहीं है कि भाषा का प्रारंभिक रूप कुछ लोगों ने मिलकर तै किया। हां, एक बात अवश्य दिखाई देती है कि जो भी रूप चल निकला उसे सामाजिक मान्यता मिली। यदि ऐसा नहीं होता तो किसी भी प्रकार से भाषा बनना संभव नहीं होता। अतः यदि 'स्वीकार' करने की बात को 'मान्यता के रूप में मानें तो इस सिद्धान्त में सार अवश्य है, परन्तु संपूर्ण भाषा का निर्णय करना, तथ्यहीन दिखाई देता है। भाषा विचारों की अभिव्यक्ति है, और यदि दो या अधिक व्यक्ति किसी एक शब्द को एक ही अर्थ में ग्रहण नहीं करते तो विचारों का आदान-प्रदान कभी भी संभव नहीं हो सकता। अन्य भाषा न समझने का यही कारण होता है। मान लीजिए आपको 'पिता' शब्द का बोध कराना है और जिससे यह शब्द कहा जा रहा है वह भी इस शब्द को उसी रूप में ग्रहण करता है जो आपने ग्रहण किया है तब तो सब कुछ ठीक है, परन्तु यदि वह व्यक्ति 'पिता' के उस अर्थ की मान्यता, किसी भी कारण से क्यों न हो, स्वीकार नहीं करता तो सब कुछ व्यर्थ ही होगा।



पर इस विवरण से उत्पत्ति संबंधी सिद्धान्त को निकालने में सहायता नहीं मिलती। हमें कुछ और बातों पर ध्यान देना होगा।

२/५/१ 'ध्वनि-साम्य' पर भाषा विशेष के अनेक शब्दों की सिद्धि प्रतीत होती है। जैसी ध्वनि सुनी वैसा ही शब्द बन गया, और फिर उससे अन्य अनेक संबंधित शब्द बनने लगे। यहां भी एक प्रश्न उठता है कि यदि 'ध्वनि-साम्य' पर ही शब्द बने तो विभिन्न भाषाओं में एक प्राणी या पदार्थ के लिए अलग-अलग शब्द कैसे बन गए:—

हिन्दी का 'घोड़ा', संस्कृत का 'अश्व', अंग्रेजी का 'हॉर्स', जर्मन का 'रॉस' आदि में ध्वनि-साम्य तो नहीं है, परन्तु अर्थ-साम्य है। इन शब्दों के मूल में कुछ अन्य कारण रहे होंगे, परन्तु भाषा-विशेष में ध्वनि-साम्य पर कुछ शब्द निकलते प्रतीत होते हैं।

२/५/२ दृश्य जगत का ध्वनि-साम्य बहुत से शब्दों का प्रदाता है। कुछ ध्वनियां देखिए—

काँउ काँउ अथवा का का	कौआ, काग, काक, कागा
किऊ किऊ (पिऊ पिऊ)	कोकिल, कोइल; पिक
पत् पत्	पत्र, पत्ता
फट् फट् फट्	फटफटिया (प्रचलित हिन्दी-शब्द)
झर् झर् झर्	झरना

कौआ, कोइल, पत्ता, फटफटिया, झरना आदि को हम देखते हैं, उनके द्वारा उस प्रकार का शब्द सुनते हैं, अतः उनके लिए उनके द्वारा निसृत ध्वनि के आधार पर शब्द बनाए गए। इसे अनुकरणवाद कह सकते हैं।

२/५/३ कुछ ऐसे शब्द भी हैं जिनका कोई स्थूल रूप तो होता नहीं, परन्तु जिन्हें सुना जाता है और जिस प्रकार सुना जाता है उसी प्रकार के शब्दों से उनका बोध होता है:—

संज्ञा शब्द	चाँटा	(चटाख् जैसी ध्वनि पर आधारित)
विशेषण	चटपटा	(जिह्वा आदि द्वारा की गई ध्वनि पर आधारित)
क्रिया	मिमियाना	(मेंय् मेंय् ध्वनि पर आधारित)

इसी प्रकार के अनेक शब्द ध्वनियों पर आधारित है। यद्यपि इन्हें हम देख नहीं पाते परन्तु ध्वनियों के आधार पर इनका नामकरण हो गया है। इन्हें 'अनुरणन' आदि सिद्धान्तों के अन्तर्गत रखा जा सकता है परन्तु हैं ये ध्वनि-अनुकरण ही।

२/५/४ कभी-कभी देखा जाता है कि हमारे मुख से ही विभिन्न परिस्थितियों में अनेक प्रकार के शब्द निकलते हैं, ये शब्द प्रचलित हो जाते हैं परन्तु इनका मूल वे ध्वनियां ही हैं जो स्वतः निकल पड़ती हैं:—

आह् (आय्) ओह्, उह्, ऊह्, औ शब्दों को देखिए--किसी दुखानुभूति पर इस प्रकार के शब्द निकलते हैं।

छि: छि:, धत्, धिक्

ये शब्द भी स्वतः निसृत हैं परन्तु इनका संबंध घृणा आदि से है। तात्पर्य यह है कि विभिन्न प्रकार के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए विभिन्न प्रकार की ध्वनियां हमारे मुख से निकल पडती हैं। इस आधार पर कुछ लोग कहने लगे कि शायद सभी शब्द हमारे मनोभावसूचक शब्दों पर आधारित हैं और इस सिद्धान्त को मनोभावाविर्व्यंजकतावाद सिद्धान्त कहा गया। परन्तु इसमें संदेह नही कि इन शब्दों के मूल में भी ध्वनि-साम्य ही है।

२/५/५ योरुप जाते समय जब हमारा 'वियतनाम' जहाज जिबूटी बंदरगाह पर रुका तो प्रातःकाल एक विचित्र प्रकार के शब्द से जहाज निनादित हो रहा था। इसमें कुछ संगीत था, कुछ गतिशीलता थी और कुछ विचित्रता। मैंने उठकर देखा कि यह 'ई यो ई' शब्द कहां से आ रहा है, देखा तो सामान जहाज पर चढ़ाया जा रहा था। धोबी को देखो, बेलदारों को देखो, नाविकों को देखो, घनघोर परिश्रम करने वाले किसी को भी देखो कुछ ऐसी ध्वनियां मिल जाएंगी जो उस कार्य विशेष को करते समय मजदूरों के मुख से निकलती रहती हैं। नायर ने कहा कि सभी शब्द इन्हीं ध्वनियों से बने हैं। यह 'श्रम-परिहरण' सिद्धान्त जिसे 'ये हे हो' सिद्धान्त भी कहा गया अधिक दूर तक नहीं चलता। कुछ शब्द इससे अवश्य संबंधित हैं। पर यह सिद्धान्त भी ध्वनि-साम्य पर आधारित है।

२/५/६ ध्वनि-साम्य के कई अन्य प्रकार भी हो सकते हैं और उन्हें 'टा-टा' 'बू-बू', 'सिंग-सांग', 'डिंग-डग', 'बाउ-बाउ' विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों द्वारा वर्णित किया गया है पर सबके मूल में ध्वनियां हैं और ध्वनि को आधार मानकर ही इन्हें विभिन्न प्रकार के नाम दिए गए हैं। इन्हें इस प्रकार दिखाया जा सकता है:—

भाषा-उत्पत्ति ↑	(i) दृश्य जगत का ध्वनि-साम्य–विभिन्न प्राणी, पदार्थ
	(ii) अदृश्य शब्द – वस्तुएं, विशेषण, क्रियाएं।
	(iii) विस्मयादिबोधक ध्वनि-साम्य—सुख, दुःख, घृणा आदि के भाव।
ध्वनि-साम्य	(iv) श्रमपरिहरण—मजदूरों से संबंधित।
(विकासवाद का	(v) धातु-सिद्धान्त, क्रिया पद—'पत्', 'पिब' आदि।
समन्वित रूप)	(vi) 'टा-टा', 'बू-बू', 'सिंग-सांग', 'डिंग-डँग', 'बाउ-बाउ' आदि अनेक नामकरण।

२/५/७ स्वीट नाम के विद्वान ने इन सभी सिद्धान्तों को मिलाकर इनमें एक बात और मिलाई कि बहुत से शब्द प्रतीकात्मक होते हैं। उसके हिसाब से किसी भाषा के शब्दों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—

(i) अनुकरणात्मक : काक, झनझन, मिमियाना, झरना।
(ii) मनोभावात्मक : आह्, ओह्, धिक्, धत्।
(iii) प्रतीकात्मक : शर्बत, पीना, दांत।

(प्रतीकात्मक शब्दों को बहुत महत्वपूर्ण बताया गया है और कहा गया है कि जो शब्द ध्वनि-साम्य से सिद्ध नहीं होते वे शब्द 'प्रतीकात्मक' होते हैं। 'पीने' में होठों को विशेष महत्व मिलता है अतः प वर्ग के 'प' 'ब' मिलकर 'पिब्' बनाते हैं और इनसे 'पीना' 'पानी' आदि अनेक शब्द बनते हैं। अरबी भाषा की 'श्र्ब्' धातु भी कुछ इसी प्रकार की है जिससे 'शर्बत' शब्द बनता है।)

२/६/१ यह तो भाषा की उत्पत्ति का पता लगाने की एक क्रिया है जिसे कुछ लोग 'प्रत्यक्ष' कहते हैं, किंतु इसके अतिरिक्त एक और पद्धति है जिसे 'परोक्ष' कहा जा सकता है। इस पद्धति के अनुसार काम करने के लिए कुछ ऐसी बातें हमारे सामने उपस्थित होती हैं जिनके वर्तमान रूप को लेकर हम उनके अतीत के संबंध में कुछ अनुमान लगा सकते हैं। ऐसा माना गया है कि भाषा निरंतर विकसित होती है, कुछ लोग कहते हैं कि भाषा का यह विकास ठीक उसी प्रकार का है जैसे बच्चों की भाषा सीखने की प्रक्रिया। परन्तु यह बात भी ध्यान में रखने की है कि बच्चे के सामने भाषा का विकसित रूप ही विद्यमान रहता है। कुछ लोगों का विचार है कि यदि हम अत्यन्त पिछड़े हुए लोगों कि भाषा को देखें तो भाषा के प्रारम्भिक रूप संबधी कुछ बातें स्पष्ट हो सकती हैं। पर क्या ये भाषाएं जिन्हें जंगली या अर्द्ध सभ्य लोग प्रयुक्त करते हैं भाषा का आदिम रूप हैं? तीसरा वर्ग इस बात को मानता है कि आधुनिक भाषाओं के जो पूर्ववर्ती रूप मिलते हैं वे हमें मूल भाषा की ओर ले जाते हैं और भाषा की-उत्पत्ति के संबंध में कुछ सुझाव दे सकते हैं। एक सीमा तक तो हम अवश्य पहुँच सकते हैं, क्योंकि उनका कुछ न कुछ रूप हमारे सामने है। परन्तु भाषा की उत्पत्ति का पता लगाना कठिन है। इस प्रकार ये तीन बातें हमारे सामने आती हैं।

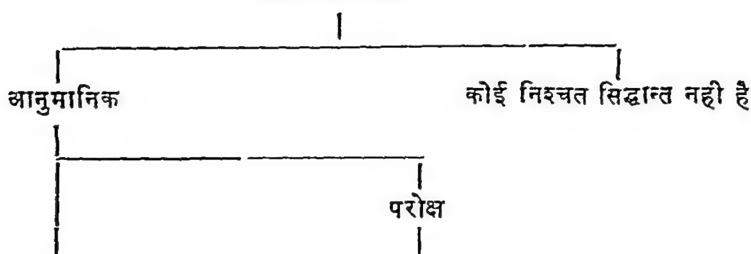
२/६/२ बच्चों की भाषा– बच्चों को भाषा शुरू करते देखा होगा। पहले कुछ अस्पष्ट ध्वनियां निकालते हैं। फिर कुछ शब्द बोलते हैं, जिनमें पुनरावृत्तियाँ होती हैं, ओष्ठ्य-ध्वनियों की प्रधानता होती है– 'पापा', 'बाबा',

'मामा' इनको बोलते समय द्वित्व सुनाई देता है यथा 'पाप्पा' 'बाब्बा', 'मामा'। बच्चे के शब्द ही पूरे अर्थ के द्योतक होते हैं—पूरा वाक्य होते हैं। शायद भाषा भी पहले शब्द-वाक्यों के रूप में रही हो, संज्ञा पद ही पूरे वाक्य का काम करते रहे हों। धीरे-धीरे बच्चा वाक्य बनाने लगता है—अधूरे, अव्यवस्थित। विधिवत् शिक्षण के उपरान्त उसकी भाषा ठीक होती है, वह सामान्य रूप में बोलने लगता है। पर बच्चे को एक सुविधा रहती है जो भाषा के प्रारम्भिक युग में नहीं रही होगी। बच्चे के चारों ओर एक विकसित भाषा बोली जाती है, और बोलने वाले अपने ढंग से ठीक ही बोलते हैं, यद्यपि कभी कभी बच्चे को दुलारते समय उसकी बोली का अनुगमन भी करने लग जाते हैं— 'मेले लाजा बइया ! तोदा, तोदा' (मेरे राजा भैया ! सोजा, सोजा) इस बोली का बच्चे पर क्या प्रभाव पड़ता होगा यह तो सहज में ही समझा जा सकता है, परन्तु अधिक समय बच्चा सामान्य रूप में शुद्ध भाषा ही सुनता है। अतः बच्चे की भाषा से भाषा के विकसित होने की दिशा का तो पता लग सकता है पर यह पता लगाना मुश्किल है कि भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई।

२/१/३ यही हाल पिछड़े हुए या असभ्य लोगों की भाषा का है। पहली बात तो यही है कि न जाने कितने परिवर्तनों के उपरान्त यह भाषा अपने वर्तमान रूप में आई होगी। एक ओर जहां परिनिष्ठित भाषा का विकास होता रहता है, दूसरी ओर इन लोगों की भी भाषा का विकास चलता है। कुछ लोग तो यहां तक कहते हैं कि दोनों वर्गों की भाषाएं समान रूप से चलती रहती हैं। अतः पिछड़े हुए लोगों की भाषा से भाषा की उत्पत्ति का पता किस प्रकार से लगाना कैसे संभव हो सकता है। एक बात अवश्य मालुम होती है कि जैसे पिछड़े लोगों की भाषा अधिक अलंकृत, गुंफित और चक्करदार नहीं होती है इसी प्रकार भाषा का रूप भी अलंकारहीन, सीधा और हलका रहा होगा। पर यह बात तो और वर्गों में भी देखी जा सकती है जो पिछड़े हुए नहीं हैं। एक व्यापारी और एक साहित्यकार की भाषा देखें। व्यापारी की भाषा स्पष्ट, सीधी और सूक्ष्म होगी, साहित्यकार की चमत्कृत, चक्करदार और गुरुत्व लिए हुए होगी। भाषा की उत्पत्ति का समाधान भाषा के इन रूपों से भी नहीं होता।

२/१/४ अब रही भाषा के इतिहास की बात। कुछ भाषाएं अपनी समृद्धि का वाङ्मय आधुनिक काल तक संजोए हुए हैं। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं ही लीजिए। सारे उत्तर-भारत में ये भाषाएं बोली जाती हैं,

इनका पूर्व रूप अपभ्रंशों में पाया जाता है, पाली और प्राकृत में पाया जाता है। उनसे भी पहले संस्कृत भाषा रही, और उससे भी पूर्व वैदिक संस्कृत थी। वैदिक संस्कृत से पहले की भाषा को मूल भारत-यूरोपीय भाषा कहा जाता है जिसके रूप केवल कल्पना में ही निवास करते हैं। इस क्रम को देखने से पता चलता है कि भाषा कठिन से सरल होती गई-ज्यों ज्यों हम पीछे चलते हैं हमें कठिन भाषा मिलती जाती है। तो क्या भाषा अपनी उत्पत्ति के समय कठिनतम रही होगी ? यह तो बड़े आश्चर्य की बात मालुम होती है। आरंभ में तो शायद भाषा बहुत ही सरल रही हो, नियमहीन रही हो, केवल एक-एक पदों के वाक्यों वाली रही हो। ये दोनों बातें मेल नहीं खाती अतएव भाषा की उत्पत्ति के जानने में भाषाओं का इतिहास भी हमारी सहायता नहीं करता। एक बात दिखाई देती है कि जैसे पहले की भाषाओं में विभिन्न रूप मिलते हैं उसी प्रकार भाषा अपने प्रारंभिक काल में अनेक रूपों वाली रही हो, और शनैः शनैः एकरूपता आती गई हो। तो आप इस संपूर्ण प्रसंग को इस प्रकार याद करने की चेष्टा करें।



१. परमात्मा द्वारा प्रदत्त
२. समझौते द्वारा निश्चित
३ ध्वनि-साम्य पर आधारित
४. प्रतीकों से विकसित
५. अनेक सिद्धान्तों द्वारा प्रतिपादित

१. बच्चों की भाषा
२. असभ्यों की भाषा
३. भाषा का इतिहास
(सभी अनुपयुक्त)

(i) ये हे हो—श्रम को कम करने के लिए उच्चरित शब्द
(ii) टा टा—काम करने की गति का अनुकरण
(iii) बू बू—भावुकता में गुनगुनाने की क्रिया
(iv) सिंग सौंग—गाने की सी क्रिया
(v) डिंग डौंग—लकड़ी या धातु पर मारने से ध्वनित

(vi) वाउ वाउ—कुत्ते की बोली, अनुकरण-सिद्धान्त पर व्यंग्य ।

(प्रत्येक से कुछ शब्द निकले प्रतीत होते हैं)

नीचे लिखे प्रश्न देखिए:—

(१) भाषा-उत्पत्ति के कुछ सिद्धान्तों का नामांकन कीजिए और उन पर अपना मत लिखिए ।

(नाम-संगीत, सम्पर्क, इंगित, मनोभावाभिव्यक्ति, अनुरणन, अनुकरण, प्रतीक, श्रमपरिहरण, परोक्ष)

(२) भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? अपनी बात समझाकर लिखिए ।

—:०:—

३ | भाषा-शास्त्र और उसका अध्ययन

३/१ भाषा का स्वरूप स्पष्ट करने की कुछ चेष्टा की जा चुकी है। भाषा क्या है? भाषा क्या करती है? भाषा का उपयोग क्या है? भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई होगी?—आदि प्रश्नों पर संक्षेप में विचार किया जा चुका है। 'भाषा' का स्वरूप यथासंभव स्पष्ट करने के बाद उसके अध्ययन का प्रश्न आता है। भाषा का अध्ययन किस प्रकार होना चाहिए? भाषा-अध्ययन विषयक प्रसंग ही भाषा-शास्त्र अथवा भाषा-विज्ञान को सामने लाता है। विधिवत् अध्ययन को ही विज्ञान या शास्त्र कहते है। हमारे पाठक इस बात को जानने के इच्छुक होंगे कि भाषा-शास्त्र क्या है, और यदि वह भाषा-विषयक विधिवत् अध्ययन है तो इस अध्ययन का विधि-विधान किस प्रकार का है। आइए, किंचित प्रयास करें।

३/२ अध्ययन करने में सामग्री विशेष की उपस्थिति अनिवार्य होती है। 'भाषा' हमारे सामने उपस्थित है। कितनी भाषाएँ उपस्थित है? यह कुछ ठीक नहीं। दो हजार तक गिनने के उपरान्त भी अभी तक हजारों भाषाएं गिनने को बाकी हैं। जो भाषाएं हमारे सामने उपस्थित है उनके पूर्व रूप भी मिलते है। इस प्रकार यदि देखें तो भाषाओं का हमारे सामने इतना बड़ा ढेर है कि अध्ययन की बडी कठिनाई सामने आ जाती है। हमें अपना क्षेत्र सीमित करना ही पड़ेगा। यदि हम 'भाषा' का ही अध्ययन करें तो उसकी सामान्य बातों को जानना होगा, ये बातें जितनी भी भाषाएं हो सकती है उनमें समान रूप से पाई जाएंगी। भाषा किस प्रकार बोली जाती है, व्यवस्थित की जाती है, अर्थ देती है—इनके पढ़ने की एक सामान्य पद्धति हो सकती है। यदि हम कई वर्तमान भाषाओं का अध्ययन करना चाहें तो हम उनकी तुलना कर सकते है, समानताएं और असमानताएं ढूंढ़ सकते है, और यदि किसी एक ही भाषा को उसके पूर्व रूपों सहित पढ़ना या अध्ययन करना चाहें तो उस भाषा के इतिहास पर, विकास पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं। अध्ययन के उपरान्त कुछ सिद्धान्त भी बना सकते है, कुछ प्रवृत्तियों का संकेत भी कर सकते है और विशेषताओं का उल्लेख भी किया जा सकता है। इस प्रकार भाषा-अध्ययन का क्षेत्र एक भाषा से भी सीमित हो सकता है, कई भाषाओं से भी और भाषा मात्र से भी।

(१) तुलनात्मक—एक ही समय की विविध भाषाएं।
(२) ऐतिहासिक—एक भाषा के पूर्व रूप।
(३) ऐतिहासिक-तुलनात्मक—कई भाषाओं के पूर्व रूप।

३/३/३ अध्ययन का एक प्रकार यह भी हो सकता है कि हम किसी एक ही भाषा का अध्ययन करें। इस प्रकार की भाषा का अध्ययन भी दो प्रकार का हो सकता है—

(१) कोई सामयिक भाषा
(२) कोई पूर्वभाषा

सामयिक भाषा का उच्चरित रूप हमारे सामने होता है, किन्तु पूर्व भाषा पुस्तकों, परचों या अतिवृद्ध व्यक्तियों में उपलब्ध होती है। अतिवृद्ध व्यक्ति के लिए भी आज से ५०-६० वर्ष पहले की भाषा का रूप प्रस्तुत करना कठिन होता है क्योंकि वह भी वर्तमान में रहकर वर्तमान भाषा का ही प्रयोग करने लग जाता है। पुस्तकों या परचों में संग्रहीत भाषा का अध्ययन तो हो सकता है परन्तु उसकी उच्चारण संबंधी बातों का पता लगाना असंभव होता है। हां, आजकल ऐसे साधन प्राप्त हो गए हैं जिनसे पिछली भाषा या बोली का भी अध्ययन संभव हो सकेगा। आज जो भाषा बोली जाती है उसे टेप कर लीजिए, प्रति ३० वर्ष बाद टेप को नया करते जाइए, संभव है यह भी आवश्यकता न रह जाय। चार बार टेप करने के उपरान्त आप १०० वर्ष बाद भी उस भाषा का अध्ययन कर सकेंगे।

अध्ययन समय २०६०

↑ १२० वर्ष तक

३० वर्ष	६० वर्ष	९० वर्ष		
——→	——→	——→	....	
प्रथम टेप	द्वितीय टेप	तृतीय टेप	चतुर्थ टेप	
(१९६०)	(१९९०)	(२०२०)	(२०५०)	(२०८०)

पर पिछले समय में यह सुविधा नहीं थी। अतः आज का अध्येता किसी भाषा को पूर्णतः जानने में किसी आधुनिक, उच्चरित भाषा को ही ले सकता है। अध्ययन के इस प्रकार को 'वर्णनात्मक' कहा जा सकता है, क्योंकि यह अध्ययन वर्णन-प्रधान होगा, किसी एक ही भाषा की विविध बातों को बताएगा—किस प्रकार बोली जाती है, ध्वनियां क्या है, शब्दो के रूप किस प्रकार बनते हैं, उन्हें वाक्यों में कैसे संजोया जाता है, उतार-चढ़ाव कैसे होता है, उसकी प्रवृत्ति अथवा प्रकृति किस प्रकार की है, आदि।

३/३/४ यह तो हुई भाषाविशेष या कई भाषाओं की बात, पर हम किन्हीं विशिष्ट भाषाओं को न लेकर भाषा-मात्र को ले सकते हैं, अर्थात् ऐसा अध्ययन भी कर सकते हैं जो सभी भाषाओं पर लागू हो, जिसमें भाषा की सामान्य बातों पर विचार किया जाता हो। इस अध्ययन को सामान्य भाषा-विज्ञान कहा जा सकता है। हम इस बात को जानने की चेष्टा करते हैं कि भाषा की अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है, परिवर्तन का क्या क्रम होता है, विकास की क्या दिशा होती है, वाक्य किस प्रकार बनते हैं, अर्थ-द्योतन की क्या प्रक्रिया होती है, आदि। भाषा-शास्त्र के अपने प्रारंभिक विद्यार्थियों को हम इसी प्रकार का भाषा-विज्ञान बताने की चेष्टा करते हैं ताकि उन्हें सामान्य सिद्धान्त मालूम हो जाएं और भविष्य में यदि उनमें इस प्रकार की रुचि उत्पन्न हो सके तो, आगे बढ़कर वर्णनात्मक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक या अन्य विधियों से किस एक भाषा या कई भाषाओं का अध्ययन कर सकें। पर सामान्य भाषा-विज्ञान अनेक प्रकार के अध्ययनों का समन्वय है जिनमें से इस स्थान पर अधिक महत्वपूर्ण अंगों का ही परिचय दिया जाएगा।

३/३/४/१ भाषा की सबसे छोटी इकाई, जिसमें अर्थ-प्रकाशन की क्षमता होती है, वाक्य है। यह सुनकर आप में से कुछ को आश्चर्य हो सकता है, क्योंकि जब पढाई शुरू होती है तो 'अक्षरारंभ' किया जाता है, 'वाक्यारंभ' नहीं। पहले हमें 'वर्णमाला' बताई जाती है, तदुपरान्त शब्द और उसके पश्चात् वाक्य। विचाराभिव्यक्ति के विचार से यह क्रम उल्टा है। पहले वाक्य उसके बाद वाक्य के विभाजन स्वरूप 'पद' (शब्द-रूप) और तब 'वर्ण' पर पहुंचते हैं।

	वर्ण	शब्द	वाक्य
शिक्षा-क्रम	→……… ……→	…………→	
	वाक्य	शब्द	वर्ण
भाषा-क्रम	→…………→	…………	

इसका कारण यही है कि हम भाषा की लघुतम इकाई वर्णों को ही मानते हैं और एक विकसित भाषा का अध्ययन करते हैं। अनेक आधुनिक शिक्षा-संस्थान भाषा-शिक्षण का आरम्भ 'वाक्यों' से ही कराते हैं, तब 'शब्द' और उसके बाद 'वर्ण', पर अधिक प्रचलित क्रम 'अक्षरारंभ' या 'वर्णमाला' सिखाना ही है। वाक्यों के अध्ययन में उनकी रचना, शब्दों (पदों) के स्थापन, संयोजन, उच्चारण में उतार-चढ़ाव, लहजा, लय, बल आदि सभी आ जाते हैं। एक वाक्य लीजिए—

वह आ रहा है।

(i) पहले कर्ता फिर किया पद का क्रम है।

(ii) 'वह' 'आरहा' 'है' किन्ही विशिष्ट शब्दों के रूप हैं।

(iii) इन शब्दों को विभिन्न रूपों में, आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित कर, संयोजित किया गया है—

वह वह (कोई परिवर्तन नहीं)।

आरहा 'आना' क्रिया से बना हुआ।

है 'होना' क्रिया से बना हुआ।

(iv) इस वाक्य को कई प्रकार से बोला जा सकता है और अर्थ में भेद होजाता है।

(अ) वह आरहा है। सूचना मात्र।

(ब) वह आरहा है। केवल 'वह' अन्य नहीं।

(स) वह आरहा है ? प्रश्नवाचक।

(द) वह आरहा है। जल्दी क्या है, आ तो रहा है।

ये सभी बातें वाक्य-अध्ययन में देखी जाती हैं, अतः इसे वाक्य-विज्ञान, रचना-विज्ञान, संरचना-विज्ञान आदि नामों से अभिहित किया जाता है। 'वाक्य-विज्ञान' अधिक प्रचलित है।

३/३/४/२ वाक्यों को यदि विभाजित किया जाए तो कई पद मिल सकते हैं। कहीं-कही एक 'पद' का ही वाक्य होता है। यथा—

(i) जाओ।

(ii) बैठो।

(iii) हाँ। अच्छा। ठीक

(iv) ना। न। नही।

जब तक पूरा अर्थ मिलता है तब तक एक पद द्वारा निर्मित वाक्य भी पूर्ण वाक्य होता है। कभी-कभी प्रसंग विशेष में भी एक ही 'पद' वाक्य का काम करता है।

आप बी. ए. मे प्रथम उत्तीर्ण होंगे।

मैं ? ('मैं' में पूर्ण अर्थाभिव्यक्ति है।)

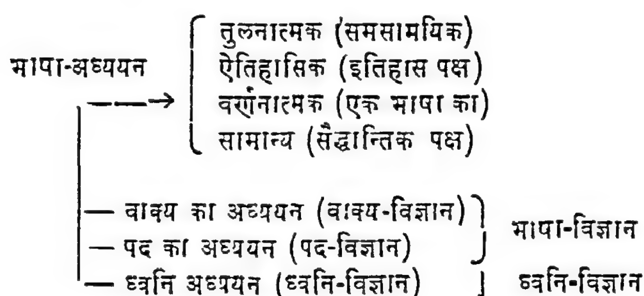
पर पद बनाए जाते हैं, उनका संस्कार करना पड़ता है। हो सकता है किसी 'शब्द' का संस्कार कर 'पद' की संज्ञा देने मे कुछ भी न करना पड़े। ऊपर के वाक्य में 'वह' में कुछ भी नही करना पडा, जबकि 'आरहा' और 'है' को बनाने की आवश्यकता पड़ी। आप इस प्रकार समझें। एक राज दीवाल बना रहा है, और दीवाल बनाने में पत्थर-माटे लगा रहा

है—कुछ पत्थरों को उसे तोड़ना पड़ता है, कहीं एक छोटी चिप्पल भी लगानी पड़ती है, परन्तु कुछ पत्थर जैसे के तैसे लगा दिए जाते हैं। परन्तु आपने देखा होगा कि राज सभी पत्थरों का परीक्षण करता है और उन्हें इधर-उधर कर देखता है, जब वह संतुष्ट हो जाता है तो दीवाल पर रख देता है। इसी प्रकार वाक्यों का निर्माण करते समय हमें सभी शब्दों को तौलना पड़ता है, कहीं कुछ बढ़ाते-घटाते, रूप-परिवर्तित करते हैं और कहीं यह कुछ नहीं करना पड़ता, पर 'शब्द' को 'पद' का स्थान देने के पूव संस्कार आवश्यक है। इस अध्ययन को कुछ लोग 'शब्द-विज्ञान' कहते हैं पर इससे अधिक उपयुक्त नाम है 'पद-विज्ञान' अथवा 'रूप-विज्ञान'। शायद 'पद-विज्ञान' अधिक उपयुक्त नाम हो। 'पद-विज्ञान' और 'वाक्य-विज्ञान' को बहुत से लोग एक साथ भी रखते हैं, और इनका अध्ययन एक साथ करते हैं—इनमें सम्बन्ध भी इतना गहरा और निकट का है कि अलग करने में अनेक अवसरों पर कठिनाइयां होती हैं।

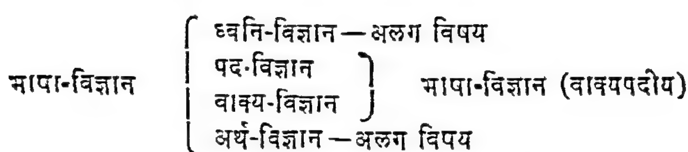
३/३/४/३ 'पद' शब्दों से और 'शब्द' ध्वनियों से निर्मित होते हैं। अतः ध्वनियों का अध्ययन भी बहुत आवश्यक है। 'ध्वनि-विज्ञान' नाम अति प्रचलित है। कुछ लोग इसे 'भाषा-विज्ञान' से अलग समझते हैं—क्योंकि 'ध्वनि', 'भाषा' से नितान्त अलग है—एक साधन है दूसरा साध्य, एक इन्द्रियगोचर है दूसरा मन-सम्बन्धित। वैसे भी 'ध्वनि-विज्ञान' में एक ध्वनि, ध्वनियों से निर्मित शब्द, शब्दों से निर्मित वाक्य, वाक्यों से निर्मित पैरा आदि सभी उच्चरित होते हैं, अतः उच्चारण के अन्तर्गत भाषा के सभी अवयव आजाते हैं अतः इसे 'भाषा-विज्ञान' का अंग कैसे माना जा सकता है—'ध्वनि-विज्ञान' अलग है, 'भाषा-विज्ञान' अलग। आजकल सभी विकसित विश्वविद्यालयों में भाषा-विज्ञान तथा ध्वनि-विज्ञान के अलग-अलग विभाग हैं, अलग-अलग अध्ययन व्यवस्था तथा अलग-अलग डिग्रियां। सम्बन्धित तो दोनों हैं ही परन्तु दोनों का अन्तर इतना अधिक है कि इन्हें अलग-अलग विज्ञान माना उचित ही है। अन्तर्राष्ट्रीय परिषदों में 'भाषा-विज्ञान' की परिषद् अलग है, 'ध्वनि-विज्ञान' की अलग। पर हमारे देश में अभी तक दोनों साथ चल रहे हैं और प्रायः यही कहा जाता है कि भाषा-विज्ञान का एक अंग ध्वनि-विज्ञान भी है पर ऐसा कहते समय हम ध्वनि मात्र पर ही दृष्टि रखते हैं और उच्चारण की सामान्य प्रक्रिया पर ध्यान देते हैं—शब्द, वाक्य आदि के उच्चारण तक नहीं ले जाते। अतः इस पुस्तक में भी 'ध्वनि-विज्ञान' उसी सीमा के अन्तर्गत रखा गया है, ताकि पाठकों को भ्रान्ति न हो। ध्वनियों का अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण और उपयोगी होता है—पर होता भी बहुत कष्ट और परिश्रम साध्य है। ध्वनियों के अध्ययन मे आजकल अनेक मशीनों से भी सहायता ली जाती है, श्रवणेन्द्रिय आदि का उपयोग भी बड़ी

सावधानी के साथ किया जाता है, मूलाकृति पर भी ध्यान रखना पड़ता है। 'ध्वनि-विश्लेषण' अपने आप में एक बड़ा विज्ञान है। हमारे प्रारम्भिक पाठकों को तो ध्वनि-विज्ञान नाम याद रखते हुए इतना जानना काफी होगा कि इसमें ध्वनियों का अध्ययन किया जाता है—उच्चारण कैसे होता है, परिवर्तन कैसे होते हैं, विविध भाषाओ में ध्वनियो के उच्चारण का क्या क्रम है, आदि।

३/५ भाषा-शास्त्र के अन्तर्गत कई प्रकार के अध्ययन हैं, इसके कई अंग हैं और उनके अध्ययन की विविध पद्धतियां हैं, और ये सभी एक दूसरे से इतने सम्बन्धित हैं कि अनेक अवसरों पर इन्हें अलग करना कष्टसाध्य होता है।



३/६ अभी तक हमने 'भाषा' के उस पक्ष पर ध्यान नही दिया है जो भाषा का ध्येय होता है, जिसका प्रकाशन करने हेतु ही भाषा का प्रयोग किया जाता है, जो हमारे सामाजिक जीवन का केन्द्र-बिन्दु है। यह है भाषा का 'अर्थ' पक्ष। 'भाषा' का सम्पूर्ण वैभव ही इसलिए है कि अभीप्सित अर्थ ग्रहण किया जा सके। यदि हम कुछ कहे और वह 'कहना' समझा न जाए तो हमारा कहना निरर्थक होगा, व्यर्थ होगा। अतः भाषा का अर्थ-पक्ष बहुत महत्त्वपूर्ण है। किन्तु क्या यह 'भाषा-विज्ञान' का एक अंग भी है? यह प्रश्न विचारणीय है। भाषा का उच्चरित स्वरूप इन्द्रियों से सम्बन्धित है, और उसका अर्थ मन से सम्बन्धित है अतः दोनों को अलग करने की प्रवृत्ति है, और बहुत से विद्वान अर्थ-विज्ञान को भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत नहीं रखते। एक प्रकार से भाषा-विज्ञान में केवल दो ही बातें रह जाती हैं (१) पद-विज्ञान तथा (२) वाक्य-विज्ञान। अन्य दो (१) ध्वनि-विज्ञान और (२) अर्थ-विज्ञान अलग स्थान रखते हैं।



३/७ भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत और भी कई विषय आते हैं, जैसे बोली-विज्ञान, लिपि-विज्ञान, भाषा-भूगोल, प्रागैतिहासिक खोज (भाषा को आधार

मानकर) कोश-विज्ञान, सुर-विज्ञान, क्षेत्र-पद्धति, जाति-भाषा-विज्ञान, ध्वनि-विश्लेषण, बोली-विकास-विज्ञान आदि। पर अभी हमारे वर्तमान पाठक इन विषयों को जानने के लिए कुछ प्रतीक्षा करेंगे, और केवल इतना जानकर ही सन्तोष करेंगे कि भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत उच्चारण, पद-विन्यास, रचना आदि का अध्ययन किया जाता है।

३/८ अब भाषा-शास्त्र की एक परिभाषा बनाने की चेष्टा करें :—

(१) भाषा का वैज्ञानिक या शास्त्रीय अध्ययन ही भाषा-विज्ञान या भाषा-शास्त्र कहा जाता है।

(२) भाषा-शास्त्र अध्ययन की वह वैज्ञानिक क्रिया है जिसमें विशिष्ट अथवा सामान्य भाषा का ऐतिहासिक, तुलनात्मक और वर्णनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाता है।

(३) भाषा-विज्ञान वह विज्ञान है जिसमें भाषा के उच्चारण, पद-निर्माण और वाक्य-संरचना का विधिवत् अध्ययन किया जाता है।

(४) भाषा का सर्वांगीण विधिवत् अध्ययन ही भाषा-विज्ञान है।

(५) भारत का 'वाक्यपदीय' ही आधुनिक भाषा-विज्ञान है। कई प्रकार से इस विषय को परिभाषित किया जा सकता है परन्तु इसका अध्ययन भाषा के अंगों से सम्बन्धित है। इसके अध्ययन की सीमाओं तथा प्रणालियों को देखकर इसका नामकरण भी अनेक प्रकार से किया जाता है—

(१) वाक्यपदीय (२) भाषिकी (३) भाषा-विज्ञान (४) भाषा-शास्त्र (५) भाषा-तत्व (६) शब्द-कथा (७) तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (८) तुलनात्मक व्याकरण (६) पद-विद्या (१०) निर्वचन-शास्त्र।

अन्य भाषाओं में भी इस शास्त्र के अनेक नाम है। अंग्रेजी में इसे— (१) लिंग्विस्टिक्स (२) फिलोलोजी (३) कम्पैरेटिव फिलोलॉजी (४) ग्लोटौलॉजी (५) ग्लौसौलॉजी आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

३/६ एक प्रश्न पर और विचार करलें। भाषा-विज्ञान के प्रसंग में 'व्याकरण- का नाम बहुत आता है। कुछ लोग भाषा-विज्ञान को 'व्याकरणों का व्याकरण' कहते हैं, कुछ 'तुलनात्मक व्याकरण' और कुछ लोग 'विवरणात्मक व्याकरण' का प्रयोग करते हैं। वास्तव में 'भाषा' के प्रसंग

में 'व्याकरण' का बहुत महत्त्व है। व्याकरण मे भी हम शब्द, उनके रूप, पद-निर्माण, वाक्य-रचना आदि पर विचार करते हैं और भाषा-विज्ञान में भी हमारे अध्ययन के विषय कुछ ऐसे ही है। तब अन्तर क्या है? निश्चय ही अन्तर अध्ययन की विधि मे है। 'व्याकरण' के द्वारा 'क्या होना चाहिए' इसका पता लगता है, और भाषा-शास्त्र बताता है कि 'क्या है'। व्याकरण कहता है 'ऐसे हो', भाषा-विज्ञान कहता है 'ऐसा है'। एक निर्देश करता है, दूसरा वर्णन करता है, इसीलिए कुछ लोग वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान को ही वास्तविक भाषा-विज्ञान की संज्ञा देते है। भाषा विज्ञान में-- क्यो', 'कब', 'कसे', 'किस प्रकार' आदि प्रश्नों पर भी प्रकाश डाला जाता है। व्याकरण 'शुद्ध' अथवा 'अशुद्ध' पर प्रकाश डालता है, भाषा-विज्ञान में शुद्ध-अशुद्ध कुछ नही है—जो है वह है। कैसे है? क्यो है? इन बातो को जानना भी इसी विज्ञान के अन्तर्गत है। पर इसमे सन्देह नही कि भाषा-शास्त्र के अध्ययन में व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है, कम से कम उसकी औपचारिकता से तो परिचित होना ही चाहिए। वैसे भाषा-विज्ञान व्याकरण का निर्माण करता है। किसी भाषा का अध्ययन करने के उपरान्त भाषा-विज्ञान उस भाषा विशेष के ध्वनिग्राम, पदग्राम, रचना-नियम आदि प्रसगो पर प्रकाश डालता है, और इनका एक ऐसा रूप प्रस्तुत करता है जिसे व्याकरण कहा जा सकता है। सक्षेप में हम कह सकते है कि भाषा-विज्ञान व्याकरण की अपेक्षा अधिक व्यापक है और वह एक या अनेक भाषाओ का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उनके विवरण देने की क्षमता रखता है तथा भाषा की सामान्य प्रवृत्तियों की मीमांसा भी करता है।

३/१० यों भाषा-विज्ञान का सबंध अन्य अनेक विषयो से है। कहने को तो वह उच्चरित भाषा का अध्ययन करता है परन्तु लिखित भाषा और साहित्य भी उसकी सीमा के अंतर्गत आते है, आज का सांख्यिकी अध्ययन तो साहित्य से ही सबधित है। ऐतिहासिक एव तुलनात्मक अध्ययन मे भी साहित्य-ज्ञान की अपेक्षा है। भाषा के दो पक्ष होते है—एक भौतिक और दूसरा मनो-वैज्ञानिक। 'भौतिकी' अथवा 'फिजिक्स' तो आजकल ध्वनि-विज्ञान का आधार ही बन गया है। आजकल के यत्र, विश्लेषण की क्रिया सभी भौतिकी पर आधारित हैं। इसी प्रकार मनोविज्ञान का भी भाषा से निकट संबध है, जब तक सोचते नही तब तक बोल नही सकते, और जब तक ध्यान नही देते तब तक समझ भी नही सकते। 'बोलना' और 'समझना' दोनो के मूल मे 'मन' है। मनोविज्ञान के साथ मानव विज्ञान भी एक सबधित शास्त्र है। इतिहास और भूगोल से भी भाषा-विज्ञान के अध्ययन मे सहायता मिलती हैं। भाषा-भूगोल और ऐतिहासिक अध्ययन तो इनसे ही संबधित हैं। जैसे

'मन' को जानना, उसकी प्रवृत्तियों को समझना आवश्यक होता है, इसी प्रकार मानवी-शरीर-रचना को भी जानना लाभकारी होता है, विशेषकर उच्चारणोपयोगी अवयवों को। पाठालोचन, पाठ विज्ञान, सांख्यिकी, गणित, संस्कृति, तर्कशास्त्र, दर्शन, अर्थशास्त्र, राजनीति, धर्म, समाज-शास्त्र, नृविज्ञान आदि भी भाषा-विज्ञान से संबंधित हैं। सच तो यह है कि समाजशास्त्रीय विषय जिनमें 'भाषा' भी एक है, एक-दूसरे से बहुत संबंधित हैं।

आपने इस पाठ में पढ़ा—

(१) भाषा-अध्ययन की दिशाएँ।
(२) भाषा-शास्त्र के विविध अंग।
(३) भाषा शास्त्र अथवा भाषा-विज्ञान की परिभाषा।
(४) भाषा-शास्त्र का अन्य विषयों से संबंध।

और अब इन प्रश्नों के उत्तर भी दीजिए—

(१) 'भाषा' और 'भाषा-शास्त्र' का अन्तर बताइए।
(२) 'भाषा-शास्त्र' में किन २ बातों का अध्ययन किया जाता है? प्रत्येक का थोड़ा-थोड़ा विवरण लिखिए।
(३) 'भाषा-विज्ञान' की परिभाषा लिखने का प्रयास कीजिए।

—:o:—

४ भाषाओं का वर्गीकरण

४/१ आप किस कक्षा में पढ़ते है ? द्वितीय वर्ष में। और आप ? तृतीय वर्ष में। और आपका छोटा भाई ? हाई स्कूल में। आपकी कक्षा में कितने विद्यार्थी हैं ? तीस। और आपकी में ? पचास। आप सब विद्यार्थी हैं, परन्तु आपका कक्षाओं में वर्गीकरण किया गया है। आपने फलवालों को देखा होगा। फलों को छांट-छांट कर अलग करते हैं। ये आम किस भाव हैं ? एक रुपया किलो। और ये ? सवा रुपया। आमों को भी वर्गीकृत किया गया। व्यक्ति और वस्तुओं का वर्गीकरण करना सुविधा के हेतु होता है। अलग-अलग कक्षाओं में बांट कर पढाई अच्छी होती है, अलग-अलग ढेरियों में रख कर पैसे अच्छे मिलते हैं। भाषाओं की संख्या भी बहुत है, यदि सबको इसी प्रकार छोड़ दिया जाए तो उनका अध्ययन किस प्रकार हो, उनमें संबंध किस प्रकार स्थापित हो, उनको व्यवस्थित कैसे किया जाए। अतः भाषाओं का भी वर्गीकरण किया जाता है। यह वर्गीकरण कई प्रकार से हो सकता है। विद्यार्थियों का वर्गीकरण उनकी अवस्था के अनुसार, योग्यता के अनुसार, भाषा के अनुसार, ऐच्छिक विषयों के अनुसार, खेल के आधार पर और अन्य किसी भी आधार पर किया जा सकता है। फलों को भी छोटे-बड़े, मोटे-पतले कच्चे-पक्के, हरे-पीले, कड़े-पिलपिले आदि आधारों पर किया जाता है। भाषा वर्गीकरण के भी कुछ आधार हो सकते हैं।

४/२ सारे विश्व में भाषाएं बोली जाती हैं–जहां मनुष्य हैं, वहां भाषाएं हैं। स्थान-स्थान पर भाषाएं हैं। स्थान के आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण संभव है। भारत की भाषाएं भारतीय, नेपाल की भाषाएं नेपाली, जापान की जापानी, चीन की चीनी, रूस की रूसी और अरब की अरबी। वर्गों की भी भाषाएं होती है—सुनारों की भाषा, लुहारों की भाषा, नाविकों की जहाजी भाषा और विद्यार्थियों की कॉलेजीय भाषा। प्रकृति के आधार पर भी भाषाएं वर्गीकृत की जाती हैं–कोमल भाषा, कठोर भाषा, मर्दानी भाषा, जनानी भाषा, पैनी भाषा, दब्बू भाषा। रचना के आधार पर भी यह संभव है—समासों की भाषा, प्रत्ययों की भाषा, विभक्तियों की भाषा आदि। पर भाषाओं का वर्गीकरण करते समय कुछ विस्तृत दृष्टिकोण अपनाना पड़ता है,

और चेष्टा इस बात की करनी पड़ती है कि हमारे वर्गीकरण का आधार अधिक से अधिक व्यापक हो—यदि आवश्यकता हो तो उस वर्गीकरण को पुनः वर्गीकृत किया जा सकता है और इस प्रकार धीरे-धीरे छोटे दायरे बनाए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए जब भाषाओं के वर्गीकरण की बात शुरू हुई तो भारत और योरप की भाषाओं को मिलाकर एक बड़ा वर्ग बनाया गया जिसे भाषाओं का एक परिवार कहा गया और नाम दिया 'भारत-यूरोपीय परिवार' या कुछ लोगों द्वारा स्वीकृत 'भारोपीय' परिवार। पर यह परिवार तो बहुत बड़ा है—इसे पुनः वर्गीकृत करें तो एक उपपरिवार निकलेगा—भारत-ईरानी और इसको फिर विभाजित किया तो 'आर्य' वर्ग बनेगा। इस प्रकार भाषाओं की परिधि छोटी-छोटी हो सकती है। इसी प्रकार यदि किसी वर्ग को 'योगात्मक' या 'सावयव' कहा जाय तो उसको पुनः विभाजन करने पर एक उपवर्ग बनेगा 'विभक्ति प्रधान' इसके पश्चात् 'बहिर्मुखी विभक्ति-प्रधान' और इसके उपरान्त 'व्यवहित बहिर्मुखी विभक्ति-प्रधान' और इसी प्रकार अन्य। वैसे तो भाषाओं को वर्गीकृत करने के कई आधार हैं परन्तु दो प्रसिद्ध हैं—आकृति के आधार पर और परिवार के आधार पर।

४/३ आकृति के आधार पर किए गए वर्गीकरण को 'आकृतिमूलक' वर्गीकरण कहते हैं। इस वर्गीकरण को रूपात्मक, रचनात्मक, संरचनात्मक, वाक्यमूलक आदि नामों से भी पुकारा जाता है। इस वर्गीकरण में भाषा की आकृति या उसके रूप पर ध्यान दिया जाता है कि शब्दों के रूप किस प्रकार बनते हैं। पहले बताया जा चुका है कि वाक्यों में प्रयुक्त करने से पहले शब्दों को 'बनाया' जाता है 'संस्कृत' किया जाता है, 'तौला' जाता है—तभी उन्हें 'पद' संज्ञा प्राप्त होती है. वाक्यों में बिठाकर उनसे अर्थ की प्रतीति कराई जाती है। 'बने हुए' शब्दों को वाक्यों में रखने का भी एक क्रम होता है, नियम होता है। अंग्रेजी में क्रम है कर्त्ता, क्रिया, कर्म; हिन्दी में क्रम है कर्त्ता, कर्म, क्रिया। यदि हम इन्हें अंकों में प्रदर्शित करें तो कहेंगे कर्त्ता-१ क्रिया-२, कर्म-३

अंग्रेजी का क्रम हुआ १२३, और
हिन्दी का क्रम हुआ १३२

पर संस्कृत में तो प्रायः ३२१, २३१, १२३, १३२, २१३, ३१२ आदि हो सकते हैं। इसीलिए कुछ लोग इस वर्गीकरण को 'वाक्यमूलक' भी कहते हैं, पर अधिक ध्यान शब्दों की आकृति पर दिया जाता है, इसीमें वाक्यों की आकृति भी आ सकती है। इसीलिए आकृतिमूलक वर्गीकरण नाम अधिक व्यापक है।

४/३/१ शब्दों को रूप देने में कई प्रकार की क्रिया करनी पड़ती है-

(i) कभी हम दो शब्दों से समस्त पद बनाते है—

'माता-पिता', 'राजमहल'

(ii) अन्य अवसरों पर शब्दों के आगे पीछे या बीच में कुछ वृद्धि की जाती है—

विमाता, मातामही, मुंपंङ्कि

(iii) विभक्तियों के योग से भी पद बनाए जाते हैं—

रामका, रामस्य

पर कभी ऐसा भी होता है जब मूल शब्द में कोई अंतर नहीं किया जाता और अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए कोई अन्य शब्द पास में लगा दिया जाता है, या शब्दो को इधर उधर कर दिया जाता है--

त लइ—वह आता है (वर्तमान काल)

त लइ लिआव—वह आया (भूत काल)

इस प्रकार आकृति के संबंध में दो क्रियाएं लक्षित होती है—

(१) जब शब्द को विकृत किया जाता है, तथा

(२) जब शब्द का रूप ज्यों का त्यों रहता है।

इसीलिए इस वर्गीकरण को कुछ लोग 'विकारी' और 'अविकारी' दो भागों मे रखते है, कुछ 'योगात्मक' और 'अयोगात्मक' कहते हैं, और कुछ 'सावयव' तथा 'निरवयव'।

४/३/१/२ योगात्मक वर्ग की भाषाओं में किसी प्रकार का योग होता है। यह योग दो प्रकार के तत्वों का होता है जिन्हें सुविधा के लिए

(१) अर्थतत्व, और

(२) संबधतत्व

कहा जाता है। यद्यपि दोनों की सत्ता समान है, परन्तु अर्थतत्व को कुछ लोग मूल शब्द भी कहते हैं। जब हम "लड़का' शब्द कहते है तो हमारे सामने एक आकृति आ जाती है, पर जब हम "लड़की" कहते हैं तो एक अन्य आकृति सामने आती है। यह क्यों हुआ—केवल इसीलिए न कि 'ा' के स्थान पर 'ी' कर दिया। देखा आपने संबंध-तत्व का प्रभाव ! इसलिए दोनों तत्व महत्वपूर्ण हैं। बात इतनी ही याद रखें कि वाक्यों में किसी शब्द को स्थापित करने के पूर्व हमें उस शब्द को एक आकृति देनी होती है, उसका रूप-निर्माण करना पड़ता है, और यह रूप निर्माण "अर्थतत्व" एवं "सबधतत्व" के योग से होता है। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि संबंधतत्त्व 'φ' होता है, परन्तु होता अवश्य है; यह दूसरी बात है कि यह हमें दिखाई दे अथवा नहीं।

निन का कुछ स्वतंत्र अस्तित्व रह गया है–ये तो सब मिल गए हैं और कुछ संकेत मात्र रहे हैं-पहले शब्द का 'न त' दूसरे का 'ल' तीसरे का 'निन' (किसी प्रकार पूरा) रह गए हैं। दूसरे वर्ग में अपेक्षाकृत अधिक अंश दिखाई देता है। एक में योग पूर्ण होता है और दूसरे में केवल आंशिक।

४/३/१/१/३ विभक्ति-प्रधान भाषाओं के भी दो उपवर्ग दिखाई देते हैं--

(१) अन्तर्मुखी विभक्ति-प्रधान।

(२) बहिर्मुखी विभक्ति-प्रधान।

(१) अंतर्मुखी में संबंध तत्त्व शब्द के अंदर काम करता है और शब्द को अनेक रूप देता है। 'क्‌त्‌ल्‌' धातु को देखें--

कातिल–कत्ल करने वाला। हत्यारा

कत्ल–हत्या।

मक़तूल–जो कत्ल किया गया है।

इस प्रकार की भाषाओं में अरबी का प्रमुख स्थान है।

(२) बहिर्मुखी में संबंध-तत्त्व बाहर काम करता है—

रामस्य–राम का

रामेण–राम से

रामे–राम में।

ऊपर के दो समानार्थी उदाहरणों में विभक्ति का योग बाहर साफ दिखाई दे रहा है, पर एक में उसका संयोग मूल शब्द या अर्थ तत्त्व के साथ ऐसा हुआ है कि वह उसका अंग हो बन गया है, दूसरे में संबंध तत्त्व बाहर अलग दिखाई देता है। इसीलिए पहले को 'संयोगात्मक' और दूसरे को 'वियोगात्मक' कहते हैं। पहला उदाहरण संस्कृत भाषा का है और दूसरा हिंदी का।

तब आप 'योगात्मक' (या संयोगात्मक, सावयव, संचयात्मक विकारी) वर्ग को इस प्रकार याद करें—

योगात्मक→
- प्रत्यय-प्रधान
  - 1. पूर्वप्रत्यय
  - 2. परप्रत्यय
  - 3. मध्यप्रत्यय
  - 4. सर्वप्रत्यय
- समास-प्रधान
  - 1. पूर्णतः
  - 2. अंशतः
- विभक्ति-प्रधान
  - 1. अंतर्मुखी } संहित
  - 2. बहिर्मुखी } व्यवहित

४/३/१/२ पर अभी अयोगात्मक (निरवयव, निर्योगी, एकाच्, एकाक्षर, अविकारी) भाषाओं के बारे में कुछ नहीं कहा। इस प्रसंग में इतना ही याद रखना काफी होगा कि शब्दों के रूप में कोई विकार नहीं होता—किसी प्रकार का योग नहीं होता। संबंध-तत्व के हेतु तीन-चार प्रकार की क्रियाएं की जाती हैं—

(१) शब्द-क्रम के द्वारा { ता लेन—बड़ा आदमी
लेन ता—आदमी बड़ा है }

(२) लहजे या सुर के द्वारा—सभी भाषाओं में देखा जाता है

(३) निपात या संबंध-सूचक शब्दों के द्वारा { त्सेन—चलना
त्सेन लिओन—चला }

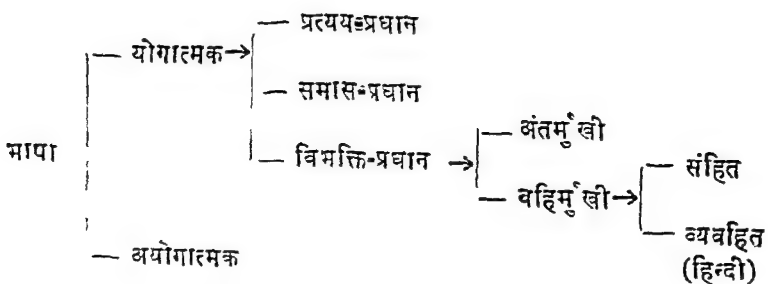
इसका सर्वोत्तम उदाहरण चीनी भाषा बताई जाती है। शब्दों की ऐसी स्थिति में व्याकरण का क्या मूल्य होगा यह सहज ही समझा जा सकता है। पद-भेद की तो कोई गुंजाइश ही नहीं है, एक ही शब्द सब कुछ बन सकता है। इसी कारण चीनी भाषा बहुत कठिन भी है। अब यह प्रयास अवश्य किया जा रहा है कि चीनी भाषा को आसान बनाया जाए। जापानी को तो आसान बनाने के कई प्रयोग सफल हो चुके हैं। इस वर्ग में सूडान, अनाम आदि की भाषाएं भी आती हैं। अतः भाषा की आकृति के हिसाब से दो बड़े वर्ग हुए—

(१) योगात्मक।

(२) अयोगात्मक।

आकृतिमूलक वर्गीकरण का यही संक्षिप्त विवरण है। इस वर्गीकरण में हिन्दी का क्या स्थान है यह दिखाया जा चुका है—

"व्यवहित बहिर्मुखी विभक्ति-प्रधान योगात्मक भाषाओं में से एक। यों समझिए—



(हिन्दी के अतिरिक्त इस स्थान पर अन्य भाषाएं भी हैं। अतः 'एक' भाषा कहा गया।)

४/३/२ भाषाओं की आकृति तो होती है पर भाषाविदों ने उनके परिवारों की भी स्थापना की है। जिस प्रकार परिवार में एक मुखिया होता है और उसकी संतानें होती हैं तथा पौत्र, प्रपौत्र आदि से वंश बढ़ता रहता है, इसी प्रकार एक मूल भाषा कई अन्य भाषाओं को जन्म देती है और इन 'अन्य भाषाओं' के द्वारा पुनः अनेक अन्य भाषाओं की उत्पत्ति होती है और इस प्रकार यह परिवार बढ़ता रहता है। पर एक बात अवश्य है--परिवार में माता-पिता दोनों अपेक्षित होते हैं और उनकी संतति भाई-बहिन के रूप में होती है, भाषाओं में 'माँ' होती है बाप नहीं; बहिनें होती हैं, भाई नहीं। यह सब इसलिए है कि 'भाषा' शब्द स्त्रीलिंग है अतः पुरुष का अस्तित्व कल्पनातीत हो जाता है। एक बात और भी है—भाषाएं जन्म नहीं लेती, विकसित होती है और अपनी पूर्ववर्ती भाषा को प्रायः समाप्त कर देती हैं, उनका साहित्य रह सकता है परन्तु बोलचाल में उनका अस्तित्व नहीं रहता। यह अजीब परिवार है कि संतान अपनी जन्मदातृ की स्थानापन्न बन जाती है और अपना दृढ़ स्थान बना लेती है। भाषाओं के परिवार की कल्पना बहुत पुरानी नहीं है। जब भाषा-शास्त्रियों ने देखा कि कुछ भाषाओं के शब्द और उनकी ध्वनियों में साम्य है तो उन्हें एक परिवार का मानना सुविधाजनक प्रतीत हुआ, इससे ये भाषाएं संबंधित हो गईं और उनकी पूर्ववर्ती भाषाओं अथवा भाषा का पता लगाना, उसका रूप स्थिर करना कुछ सरल हो गया।

४/३/३ नीचे लिखे शब्दों पर ध्यान दीजिए —

पिता	फादर	फातर	पिदर
माता	मदर	मूतर	मादर
भ्राता	ब्रदर	ब्रूदर	बिरादर
संस्कृत (हिंदी)	अंग्रेजी	जर्मन	फारसी

कितना साम्य है—ध्वनियों का और अर्थ का भी। यदि इन भाषाओं को हम एक ही परिवार की कहें तो अनुचित नहीं होगा। इस प्रकार शब्दों को देखकर, उनकी ध्वनि और अर्थ की समानता जानकर भाषा-शास्त्रियों ने भाषाओं के परिवार स्थापित करने की चेष्टा की और विश्व की भाषाओं को विविध परिवारों में रखने का प्रयास किया। चेष्टा करने पर यह भी स्थापित किया गया कि इनकी मूल भाषा एक हो सकती है। इस प्रकार का वर्गीकरण ही पारिवारिक वर्गीकरण कहलाता है। इसके कुछ और भी नाम हैं, जैसे ऐतिहासिक वर्गीकरण, उत्पत्तिमूलक वर्गीकरण, वंशानुक्रमिक वर्गीकरण। परन्तु अधिक प्रचलित नाम पारिवारिक वर्गीकरण है। पारिवारिक वर्गीकरण की बात तब चली जब योरुप के विद्वानों को इस बात का पता लगा कि ग्रीक

और लैटिन, संस्कृत और पुरानी फारसी में बहुत सी समानताएं हैं। ऐसा क्यों? उनका उत्तर था—एक ही परिवार की होने के कारण।

४/३/४ पारिवारिक वर्गीकरण कुछ इस प्रकार से हुआ—

(१) भारत-यूरोपीय परिवार—उत्तर भारत तथा योरुप की भाषाएँ।
(२) द्रविड़-परिवार—भारतवर्ष के दक्षिण की भाषाएँ।
(३) एकाक्षर अथवा चीनी परिवार—चीन, तिब्बत, थाईलैंड आदि की भाषाएँ।
(४) सेमेटिक परिवार—अरबी आदि भाषाएँ।
(५) काकेशस परिवार—सोवियत संघ की जार्जियन आदि भाषाएँ।
(६) आग्नेय या आस्ट्रिक परिवार—इंडोनेशियन, मुंडा आदि भाषाएँ।
(७) यूराल-अल्ताई—फिनिश, तुर्की आदि भाषाएं।
(८) हैमेटिक—काप्टिक, सोमाली, खामीर, आदि भाषाएँ।
(९) बंटू—(बांटू) स्वाहिली, जूलू, काफिर, आदि भाषाएँ।
(१०) बुशमैन—नामा, खोरा आदि भाषाएं।
(११) रेड इंडियन—चेरोकी, मय आदि भाषाएं।

इस प्रकार अनेक परिवार हैं। कुछ नए परिवार भी अस्तित्व में आ रहे हैं। कुछ का परिवार अभी निश्चित नहीं हुआ है और कुछ परिवारों का पुनर्निरीक्षण कतिपय भाषाओं के वर्गीकरण को इधर-उधर कर रहा है। इस स्थान पर यह इष्ट नहीं है कि सभी परिवारों की विशेषताओं का विवरण उपस्थित किया जाए। किन्तु हमें इस बात की जानने की आवश्यकता है कि भारत में किन-किन परिवारों की भाषाएं बोली जाती है।

४/३/४/१ भारतवर्ष मे बोली जाने वाली भाषाएँ इस प्रकार हैं:—

(१) भारत-यूरोपीय परिवार के भारत-ईरानी उपपरिवार से संबंधित नीचे लिखी शाखाएँ।
   (i) ईरानी—फारसी।
   (ii) दरद—शीना, काश्मीरी, कोहिस्तानी।
   (iii) आर्य—हिंदी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि।

(२) द्रविड़ परिवार—चार मुख्य भाषाएं।
   तमिल, तेलगु, मलयालम, कन्नड़।

(३) चीनी परिवार—
   आसाम-बर्मी शाखा—नागा आदि।
   तिब्बत-हिमालयी शाखा—लद्दाखी आदि।

(४) आस्ट्रिक या आग्नेय परिवार—
   आस्ट्रो—एशियाटिक—कोल, शाबरी आदि।

(५) अनिश्चित परिवार—
   अंदमानी आदि।

इस प्रकार हमारे देश में कई परिवारों की भाषाएं बोली जाती हैं–इनमें दो परिवार प्रमुख हैं। इनका संक्षिप्त विवरण उपयोगी होगा। कुछ लोग द्रविड़ और भारत-यूरोपीय को एक ही मानते हैं, और कुछ आर्य तथा द्रविड़ भाषाओं को एक मानकर 'भारतीय' परिवार की बात कहते हैं। वैसे दोनों परिवार के आधुनिक रूपों पर संस्कृत का प्रभाव इतना छाया हुआ है कि इन कल्पनाओं को बल मिलता है। पर सामान्यतः इन दोनों को अलग-अलग माना जाता है।

४/३/४/२ द्रविड़-भाषाएं अपने उत्तम साहित्य के लिए प्रसिद्ध हैं। तमिल भाषा का साहित्य तो बहुत ही प्राचीन और समृद्ध बताया जाता है तथा उसकी तुलना संस्कृत भाषा से की जाती है। मैंने इस वर्ग की एक विभाषा तुलू का अध्ययन किया था। द्रविड़ भाषाओं के पंडित कॉल्डवेल ने इसे उन्नत भाषाओं में माना है। द्रविड़-परिवार की भाषाएं प्रायः प्रत्यय-प्रधान भाषाएं हैं। द्रविड़ भाषाओं में संयोग बड़ा स्पष्ट होता है। कन्नड़ का उदाहरण देखें सेवक–र (सेवकों ने) सेवक-रन्नु (सेवकों को) सेवक-रिंद (सेवकों से) सेवक-रिगे (सेवकों के लिए) आदि। इनके निर्जीव पदार्थ नपुंसकलिंग में होते हैं और नपुंसकलिंग का बहुवचन प्रायः नहीं होता। रूपों की अधिकता होती है। यदि इस परिवार को वर्गों में बांटा जाए तो चार वर्ग हो सकते हैं—

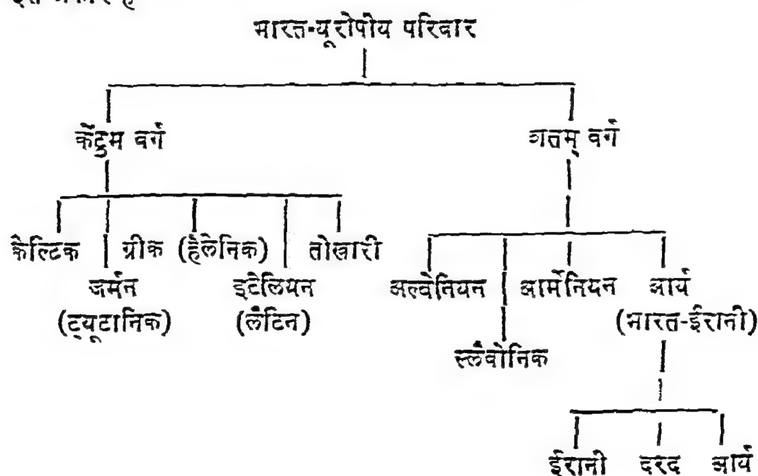
(१) बाहरी वर्ग—ब्राहुई (कलात में बोले जाने वाली)

(२) आंध्र वर्ग—तेलगु

(३) द्रविड़ वर्ग—तमिल, मलयालम, तुलू, कन्नड।

(४) मध्यवर्ती वर्ग—गोंडी, कुई, कुरुख आदि।

४/३/४/३ भारत-यूरोपीय परिवार का अध्ययन कुछ विस्तार से करना होगा क्योंकि 'हिंदी' इसी परिवार की एक भाषा है। इस परिवार का रूप इस प्रकार है—



भारत-यूरोपीय परिवार में अनेक उप-परिवार हैं। इनमें से प्रमुख ६ को ऊपर दिखाया गया है। इन ६ उपपरिवारों को 'केंटुम' और 'शतम्' दो वर्गों में बांटा गया है। कारण यह है कि हिंदी के 'सौ' का पर्यायवाची इन उपपरिवारों में दो प्रकार से पाया जाता है-एक 'क' रखता है दूसरा 'श' या 'स'

'क'	लै०	केंटुम्	संस्कृत	शतम्	'श' (स)
	गा०	खुंद	रूसी	स्तो	
	तो०	कंध	अव०	सतम्	

हम इन सभी उप-परिवारों का अध्ययन करना अभीष्ट नहीं समझते, केवल 'भारत-ईरानी' उपपरिवार को ही लेते हैं, क्योंकि उत्तर भारत की भाषाएं इसी के अंतर्गत हैं।

४/३/४/३/१ भारत-ईरानी में तीन वर्ग हैं—(१) ईरानी (२) दरद (३) आर्य। कुछ लोग इसे इस प्रकार भी कहते हैं कि उपपरिवार का नाम 'आर्य' हो और वर्गों के नाम (१) ईरानी (२) दरद तथा (३) भारतीय हों। ईरानी में ईरान की भाषाएं आ जाती हैं। विद्वानों ने पता लगाया है कि प्राचीन फारसी और संस्कृत में घनिष्ठ सबंध है। जेंदावस्ता और वेदों की भाषा का साम्य भी बताया जाता है। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में भी फारसी के अनेक शब्द हैं तथा बहुत से संस्कृत तथा फारसी शब्द समानता रखते हैं। दरद भाषाओं का क्षेत्र पामीर तथा पश्चिमोत्तर पंजाब है। इन भाषाओं का गठन ईरानी और भारतीय के बीच का है अतः इन्हें भारत-ईरानी के अंतर्गत मान लिया जाता है, इसकी प्रमुख भाषाएं काश्मीरी, शीना आदि हैं। तीसरा वर्ग भारतीय आर्य भाषाओं का है, जिसका विवरण अलग ही देना उचित होगा।

उत्तर दीजिए—

१. भाषाओं का वर्गीकरण किन-किन आधारों पर किया जा सकता है ?
२. आकृतिमूलक वर्गीकरण के अन्तर्गत हिंदी का स्थान बताइए।
३. भारतवर्ष में किन-किन परिवारों की भाषाएं बोली जाती हैं ?

—:०:—

५

भारतीय आर्य-भाषाएँ

(प्राचीन और मध्यकालीन)

५/१ ऊपर बताया जा चुका है कि भारत में अनेक परिवारों की भाषाएं बोली जाती हैं। इनमे दो परिवार प्रमुख हैं—(१) द्रविड परिवार तथा (२) भारत-यूरोपीय परिवार। 'हिन्दी' का संबंध 'भारत-यूरोपीय' परिवार से है। इस परिवार की भाषाएं योरूप के पश्चिम में आयर्लेण्ड से लेकर भारत के पूर्व तक बोली जाती हैं और विस्तार, साहित्यिक समृद्धि, बोलने वालो की सख्या, अध्ययन आदि की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। पारिवारिक वर्गीकरण मे अनेक दृष्टियों से भारत-यूरोपीय परिवार का नाम प्रथम आता है। इस परिवार का अतीत और वर्तमान दोनों ही गौरवपूर्ण है—जिस परिवार मे ग्रीक, लैटिन, सस्कृत, फारसी, अंग्रेजी, रूसी, जर्मन, बंगला, हिंदी आदि भाषाएं हों उसके वैभव का क्या कहना ! संपूर्ण योरुप, ईरान और उत्तर भारत में इस परिवार का प्रभुत्व है, आधिपत्य है। इस परिवार के उपपरिवारो की बात भी ऊपर कही जा चुकी हे। इन उपपरिवारों के एक का नाम बताया गया था 'भारत-ईरानी' या 'आर्य'। 'आर्य' उपपरिवार मे तीन वर्गों का संकेत था, एक ईरान से संबंधित, दूसरा दरद और तीसरा भारत से सबंधित। इस अध्याय में भारतीय आर्य-भाषाओ का कुछ विवरण उपस्थित किया जाएगा। इस वर्ग को महत्त्व देने का कारण तो आप समझ ही गए होगे, क्योकि इस वर्ग की आधुनिक भाषाओ में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण भाषा है, जिसका नाम है 'हिंदी'—

५/२ भारतीय आर्य-भाषाओ का इतिहास लगभग ३'५०० वर्षों का मिलता है। यह वह समय हो सकता है जब वेदो की रचना हुई हो। वेदों को वैसे तो बहुत पुराना माना जाता है परन्तु उनमे भाषा का जो रूप हमें आजकल प्राप्त है उसके आधार पर साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व वेदो का प्रणयन सभव प्रतीत होता है। साहित्य और भाषा का यह स्रोत निरतर चलता रहा है, और जो कृतियां हमे वर्तमान काल में उपलब्ध है उनको देखते हुए यह बात निःसंकोच कही जा सकती है कि तब से अब तक भारतीय वाङ्मय समृद्ध रहा है। इस ३५०० वर्षो का विभाजन इस प्रकार करते हैं—

ई. पूर्व १५०० —वैदिक
ई. पूर्व १००० —संस्कृत } → प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाएं (१५०० ई. पू.—५०० ई. पू.)

ई. पूर्व ५००
ई. ०
ई. ५००
ई. १००० } —पाली —प्राकृत —अपभ्रंश } → मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाएं (५०० ई. पूर्व—१००० ई.)

ई. १०००
ई. २००० } → आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाएं (१००० ई.—२००० ई.)

५/२/१ प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाओं के दो रूप मिलते हैं—'वैदिक' और 'संस्कृत'। कुछ लोग इन दोनों को 'संस्कृत' ही कहते हैं, और कुछ 'वैदिक संस्कृत' तथा 'संस्कृत' अथवा 'लौकिक संस्कृत' नाम देते हैं। 'संस्कृत' भारत की ही नहीं विश्व की एक प्रमुख भाषा है, और जब से आधुनिक भाषा-विज्ञान का आरंभ हुआ है तब से तो इसका महत्त्व बहुत ही बढ़ गया है। किसी भी बड़े विश्वविद्यालय में संस्कृत का विभाग अवश्य मिलेगा। जो भी भाषा-शास्त्री होगा वह संस्कृत भाषा के संबंध में कुछ बातें अवश्य जानता होगा और जब भी समृद्ध भाषा और साहित्य की बातें होंगी, संस्कृत का नामोल्लेख होगा।

५/२/१/१ वेदों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है उसे वैदिक या वैदिक संस्कृत कहते हैं। कुछ लोगों ने इसे 'छन्दस्' भी कहा है। वेद चार हैं—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद। इन चारों में ऋग्वेद के कुछ अंशों को भाषा का प्राचीनतम रूप माना जाता है। हो सकता है भाषा का यह रूप तब प्रचलित रहा हो जब आर्य पंच नदियों के प्रान्त पंजाब में बसे हों। इसके पश्चात् बहुत समय तक वेदों के पाठ में वृद्धि होती रही होगी। कुछ लोगों की मान्यता है कि ई० पू० ८०० तक यह क्रिया चलती रही।

५/२/१/२ वैदिक संस्कृत और संस्कृत की ध्वनियों में अंतर है, ये ध्वनियां मूल भारत यूरोपीय ध्वनियों का विकसित रूप है। अनुमान लगाया जाता है कि पहले चवर्ग तथा टवर्ग नहीं थे, वैदिक काल में आए। सूची इस प्रकार है—

व्यंजन—क वर्ग (क्, ख्, ग्, घ्, ङ्) कंठ्य
च वर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) तालव्य
ट वर्ग (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) + ळ्, ळ्ह मूर्द्धन्य
त वर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) दंत्य
प वर्ग (प्, फ्, ब्, भ्, म्,) ओष्ठ्य

अंतस्थ (य्, र्, ल्, व्) दंतोष्ठ्य व्

ऊष्म (श्, ष्, स्, ह्,)

ह —घोष
: —अघोष
ख़ —जिह्वामूलीय
फ़ —उपध्मानीय

स्वर— अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ओ—मूल
ऐ, औ, —संयुक्त
(अइ) (अउ)

अनुनासिक— ' ँ '

५/२/१/३ वेदों का संकलन करने से काफी पहले मंत्रों की रचना होती आई होगी। संभव है बहुत से मंत्र आर्यों के भारत में आने से पहले ही बने हों। न जाने कितने समय और कितने विस्तृत स्थल में इनकी रचना हुई होगी। मंत्रों का अध्ययन करते समय जो रूपात्मक वैषम्य दिखाई देता है वही इस धारणा के मूल में है। यजुर्वेद में रूप की यह विषमता और भी स्पष्ट रूप में देखी जाती है, उसके कुछ मंत्र तो वैदिक साहित्य का प्राचीनतम रूप हैं। मंत्र-युग की अंतिम कृति 'अथर्ववेद' मालूम होती है। ऋग्वेद में बोलियों का अंतर विशेष रूप से लक्षित होता है। 'मंडल' शब्द ही इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। कुछ शब्द और शब्द-समुच्चय जो एक मंडल में पाये जाते हैं, दूसरे में नहीं मिलते, और इसी प्रकार इन मंडलों में पाए गए शब्द-रूपों में भी अंतर मिलता है। वेदों का संपादन काफी समय के बाद किया गया प्रतीत होता है। वैदिक साहित्य का अंतिम अंग ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में प्राप्त होता है। इन सभी कृतियों की भाषा को 'वैदिक संस्कृत' कहा जाता है।

५/२/२ 'संस्कृत' को 'लौकिक' तथा 'क्लासिकल' विशेषणों से विभूषित किया जाता है। मान्यता है कि प्रचलित प्राकृत को संस्कार करने के उपरान्त जो रूप प्राप्त हुआ उसे 'संस्कार युक्त' या संस्कृत कहा गया। कुछ विद्वानों का तो ऐसा भी विचार है कि संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं थी : साहित्य-प्रणयन की भाषा थी। हार्नले, ग्रियर्सन आदि विदेशी विद्वान ऐसा ही मानते हैं। पर भारतीय विद्वान गुणे, भण्डारकर आदि इसे बोलचाल की भी भाषा मानते हैं। संस्कृत में लिखित साहित्य की एक लम्बी परंपरा है जो हजारों वर्ष पहले शुरू होकर मुगल सम्राटों के समय तक तो चली ही, किसी रूप में आज भी चल रही है। आज तो उसे जीवित भाषाओं के समान ही श्रेणी मिली

हुई है और संविधान की भाषाओं में उसे भी माना गया है। मृत् भाषा मानने की पुरानी बात अब समाप्त हो चुकी है। कभी-कभी तो इस मत का भी प्रतिपादन किया जाता है कि भारत की राजभाषा 'संस्कृत' हो। एक बात अवश्य है कि संस्कृत जिस रूप में आज विद्यमान है वह बोलचाल का रूप नहीं मालुम होता, साहित्यिक रूप ही मालुम होता है, और इसीलिए जब संस्कृत को राज-भाषा बनाने की बात कही जाती है तो उसके साथ ही यह प्रस्ताव भी आता है कि संस्कृत को सरल बनाया जाए—उसकी ध्वनियां, रूप आदि सरल हों।

५/२/२/१ संस्कृत की ध्वनियों में वैदिक ध्वनियों की अपेक्षा कमी हो गई थी।

व्यंजन	क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग।
	अन्तस्थ
	ऊष्म यथावत् थे।
	ळ ळ्ह ख़ फ़ व़ लुप्त हो गए थे।
शुद्ध अनुनासिक	ँ स्वर और व्यंजन के बीच झूलने लगे।
स्वर	ऋ, ॡ अपना स्वरत्व खो चुके थे।

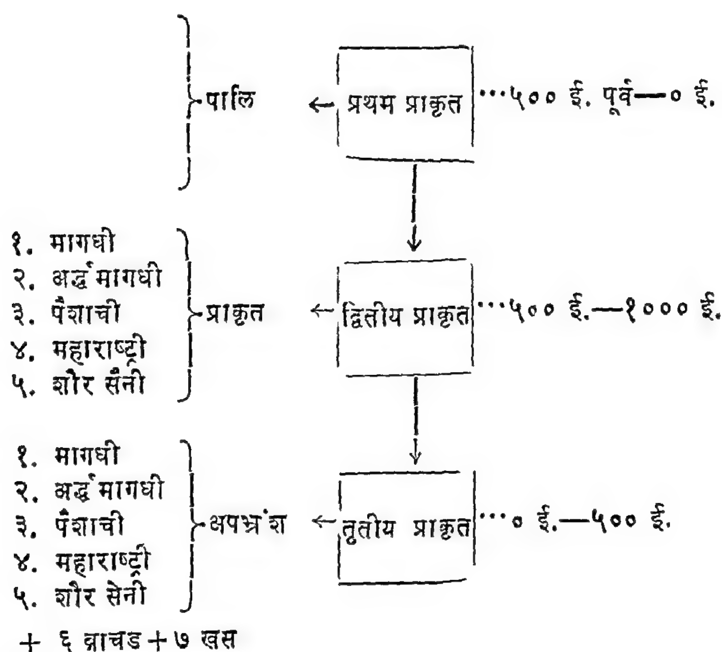
५/२/२/२ रचना की दृष्टि से धातुओं का अर्थ परिवर्तित होने लगा था। वाक्य में शब्द का स्थान प्राय: निश्चित नही था। संस्कृत में द्रविड़ तथा आग्नेय परिवार के शब्द आ चुके थे—जैसे कुंड, दंड, नाग, कदली। संस्कृत मे तीन लिंग होते हैं:- पुल्लिग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिग। वचनों की सख्या भी तीन है- एकवचन, द्विवचन, तथा बहुवचन। वैदिक संस्कृत में जो रूपा-धिक्य था वह संस्कृत में कुछ कम हो गया, इससे रचना की जटिलता में भी अंतर पड़ा। संस्कृत एक विभक्ति-प्रधान भाषा रही है परन्तु इसकी विभक्तियां मूल शब्द के साथ मिलकर एक रूप हो जाती हैं जैसे रामे, रामाभ्याम आदि।

वैदिक
.... + { विदेशी शब्द १, स्वराघात २ }
.... − { कुछ ध्वनियां १, कुछ रूप २, जटिलता ३, संगीतात्मकता ४ }
=.... संस्कृत

इस प्रकार वैदिक में कुछ कमियां करके और थोड़ी सी बातें बढ़ाकर संस्कृत ने अपना रूप प्राप्त किया। इस संस्कृत को कितना मान मिला, इसक

कितना विस्तार हुआ, पाण्डित्य का कितना प्रदर्शन हुआ, कैसी सार्वभौमिकता मिली, भाषा-शास्त्र मे इसे क्या स्थान प्राप्त हुआ, आज भी इसका क्या स्थान है—ये बातें सर्वविदित हैं।

५/३/१ भारतीय आर्य-भाषाओं का मध्यकाल मोटे रूप मे तीन अवस्थाएं रखता है, और प्रत्येक अवस्था को ५०० वर्ष का माना गया है—इस पूरे काल को कुछ लोग 'प्राकृत' काल भी कहते हैं और तीन कालो की कल्पना करते हैं। 'प्राकृत' का शाब्दिक अर्थ 'प्रकृति' से संबंधित होकर 'स्वभाव' या 'लोक' संबंधित होता है, और कहा जाता है कि इस युग की भाषाओं में लोक-भाषा का रूप सुरक्षित है, यद्यपि इस युग का सुन्दर साहित्य भी उपलब्ध होता है। इस मध्ययुगीन भाषा का आविर्भाव कुछ लोगों के अनुसार इसलिए भी था कि पंडितों ने संस्कृत को जटिल बना दिया था और उसे नियमों से इतना बांध दिया था कि सामान्यजन उसमें प्रवेश करने से घबडाता था। उसने अपनी बोलचाल की एक अन्य भाषा निकाल ली और इसे 'प्राकृत' कहा जाने लगा। इस युग के तीन विकास-स्वरूप स्पष्ट दिखाई देते है।



५/३/१/१ बौद्ध साहित्य के प्रसंग मे पालि भाषा बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस भाषा का क्षेत्र भारत ही नहीं रहा वरन् लंका, ब्रह्मदेश, तिब्बत, चीन जापान आदि देश भी रहे। आज भी यह बौद्ध धर्म की भाषा है और एक

भी कहते हैं जिसमे आत्मीयता और व्यक्ति विशेष का पुट भी दिखाई पड़ता है। इसके नामकरण पर भी विद्वानो के अनेक मत हैं। कुछ लोग मानते हैं कि चूंकि यह 'प्राक् (पहले) कृत (बनाई हुई)' है इसलिए इसे प्राकृत या मानव की वास्तविक भाषा कहना चाहिए। 'प्रकृत' या सहज रूप में बोली जाने के कारण भी कुछ लोग इसे 'प्राकृत' कहते हैं। इसमें 'वचन' का 'सहज' व्यापार होता है, यह मानवी प्रकृति के अनुरूप होती है अतः इसे प्राकृत कहना चाहिए—इस कथन का भी प्रायः वही भाव है। पर एक बडी विचित्र बात यह है कि पुस्तकों में प्राप्त प्राकृत को कुछ नियमों के सहारे अनायास ही संस्कृत मे परिवर्तित कर दिया जा सकता है; या यो कहिए कि कुछ नियमों को मानकर संस्कृत का रूप ही 'प्राकृत' बना दिया जाता है। विभिन्न प्रकार की प्राकृतो के विभिन्न नियम है। इसीलिए कुछ लोग प्राकृत (सहज) जैसी भाषा को सस्कृत से उद्भूत कृत्रिम भाषा बताते हैं।

५/३/३ प्राकृत भाषा के अनेक रूप हैं। कुछ प्राकृतें भारतवर्ष के बाहर भी मिली हैं। तुर्किस्तान मे कुछ लेख जो खरोष्ठी लिपि मे मिले हैं वे प्राकृत में हैं, इसी प्रकार खोतान तथा मध्यएशिया मे प्राकृत के रूप मिले हैं—कुछ रूसी विद्वानों ने इन प्राकृतो पर विशेष प्रकाश डालने की चेष्टा की है। परन्तु प्राकृतो के अधिक रूप और नमूने भारत मे मिले हैं। प्राकृतों के वर्गीकरण करने के भी अनेक आधार हैं जैसे धार्मिक, साहित्यिक, भौगोलिक, व्याकरणिक आदि। इसके अनेक नाम मिलते हैं—महाराष्ट्रीय, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, अर्द्धमागधी, आर्ष, चूलिका, शाकारी, ढक्की, चाडाली, गौड़ी, शावरी, व्राचड, खास, माद्री, टक्की आदि परन्तु अधिक प्रचलित नाम केवल पाच हैं—मागधी, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री, पैशाची और शौरसेनी। इनका विवरण, अति सक्षेप में, नीच दिया जा रहा है—

१. **मागधी**— मगध के आसपास का प्राकृत। इसमें 'र' का 'ल' हो जाता है, 'ज' का 'य' हो जाता है तथा 'स', 'ष' के स्थान पर 'श' मिलता है।

२. **अर्द्धमागधी**—प्राचीन कौशल के आसपास की भाषा है इसमे चवर्ग के स्थान पर तवर्ग मिलता है, 'ष' 'श' के स्थान पर 'स' तथा दत्य ध्वनियों के स्थान पर मूर्द्धन्य ध्वनिया।

३. **महाराष्ट्री**— मूल स्थान महाराष्ट्र, यह प्राकृत बहुत महत्वपूर्ण रही है।

'स' 'ष'-'श' हो जाते हैं, दो स्वरों के बीच वाले वर्ण लुप्त हो जाते हैं और पूर्वकालिक क्रिया में 'इअ' लगाते हैं।

४. पैशाची— उत्तर पश्चिम में काश्मीर के आसपास प्रचलित थी। शायद 'दरद' वर्ग से इसका संबंध था। 'ल' के स्थान पर 'र' देखा जाता है तथा 'ष' के स्थान पर 'श' 'स' मिलते हैं। इसमें भी स्वरों के बीच वाले व्यंजन लुप्त हो जाते हैं।

५. शौरसेनी— मथुरा के आसपास की प्राकृत। यह प्राकृत बहुत महत्वपूर्ण रही है। संस्कृत नाटकों में गद्य की भाषा यही प्राकृत है। 'क्ष' का विकास 'क्ख' में हुआ है। दो स्वरों के बीच वाला 'त'-'द' हो गया है।

५/३/३/१ सभी प्राकृतों का यदि समष्टि रूप में अध्ययन किया जाए तो कुछ विशेषताएं देखने को मिलती हैं—

ध्वनि-संबंधी—ळ् ळ्ह का प्रयोग; तीनों ऊष्म मिलते हैं—कहीं 'स' कहीं 'श' और कहीं 'ष' भी। 'न' का विकास 'ण' में मिलता है। व्यंजनांत शब्दों का प्रायः अभाव हो गया है। 'य', 'र', 'ल' विशेष प्रकार से प्रयुक्त होते हैं। अनेक स्थानों पर व्यंजन लुप्त हो जाते हैं।

रूपसंबंधी— द्विवचन प्रायः लुप्त हो गया। भाषाएँ संयोग से वियोग की ओर चलीं। संस्कृत का आत्मनेपद नहीं मिलता। रूपों की बहुत कमी हो गई—अनेक रूप एक-से हो गए। इनमें प्रयुक्त शब्द 'तद्भव' हैं।

५/३/४ प्राकृतों से अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति बताई जाती है, इनके अतिरिक्त कुछ अन्य अपभ्रंशों का नाम भी लिया जाता है। अपभ्रंश का सामान्यतः गृहीत अर्थ 'बिगड़ा हुआ' होता है, शायद ये प्राकृतों या अन्य भाषाओं के 'बिगड़े हुए' रूपों का समन्वित रूप हो। इसे कुछ लोग 'अपभ्रष्ट' भी कहते हैं, शायद 'अवहट्ठ' नाम भी इसी से निःसृत है। जब पहले वैयाकरणों ने इस शब्द का प्रयोग किया था तो निश्चित् रूप से उनका अभिप्राय

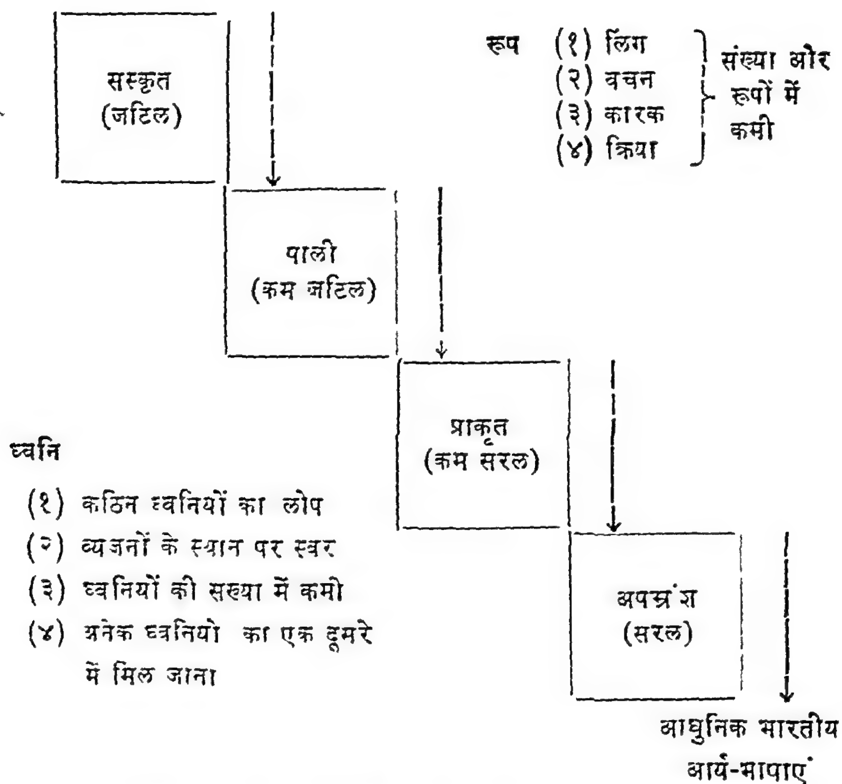
संस्कृत शब्द के बिगड़े हुए रूप से था। भाषा विशेष के अर्थ में इसका प्रयोग ५०० ईस्वी के बाद ही हुआ प्रतीत होता है। अपभ्रंश के भी अनेक भेद-प्रभेद माने जाते है। कुछ लोग इसके तीन भेद मानते हैं नागर, उपनागर और व्राचड। कुछ इसके भेदो को वैदर्भी, गौड़ी, व्राचड़, ओड्री, कैकेयी आदि नामों से संबोधित करते हैं। कुछ विद्वानों ने तो २७ भेद तक माने है। कुछ इन्हें घटाकर अधिक वैज्ञानिक और सुविधाजनक रूप में केवल 'पश्चिमी' और 'पूर्वी' ही मानकर संतोष करते है। पर यह मान्यता प्रायः चलती आई है कि प्रत्येक 'प्राकृत' से एक 'अपभ्रंश' निकली, इस प्रकार ५ अपभ्रंश तो पांच प्राकृतों से निकली, बाकी 'व्राचड़' अपभ्रंश का नाम भी बहुतायत से मिलता है अतः इसे भी शामिल कर लेना चाहिए। काम तो इन ६ अपभ्रंशों से ही चल जाता है, पर कुछ लोगों का विचार है कि पहाड़ी भाषाओं की जन्मदाता खस को भी शामिल कर लेना चाहिए। यह अपना-अपना मत है कि कितनी अपभ्रंश मानें, परन्तु सुविधा के लिए ऊपर लिखे भेदों को मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। अपभ्रंश भाषाएं बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि ये हमारी आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के पूर्व रूप हैं, और विद्वानों का विचार है कि आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाएं सीधे-सीधे अपभ्रंशों से विकसित हुईं।

५/३/४/१ अपभ्रंशों में भी ध्वनि तथा रूप-संबंधी कुछ बातें दिखाई देती है।

ध्वनि-संबंधी—स्वरों के अनुनासिक रूप मिलते है, 'श' 'ष' के स्थान पर 'स' मिलता है, केवल 'मागधी' में 'श' मिलता है, 'व' बदल कर 'ब' बन गया, 'ष्ण' 'न्ह' में बदल गया, 'य' का 'ज' बन गया, 'ल' का आधिक्य हो गया—ड न द र के स्थानों पर मिलने लगा।

रूप-संबंधी—वाक्य में शब्दों के स्थान निश्चित होकर क्रम बन गया, नपुंसकलिंग समाप्त हो गया, कारकों के रूप कम हो गए, तद्भव शब्दों की संख्या बहुत होगई, कारकों के द्योतन के लिए अलग शब्द लगाने की आवश्यकता हुई, भाषा सरल हो गई क्योंकि नाम और धातु दोनों के रूप बहुत कम हो गए। इस प्रकार सरलीकरण का कार्य वेग से हुआ परन्तु अस्पष्टता भी आगई क्योंकि बहुत से रूप एक-प्रकार के होगए।

कठिनता मे सरलता की ओर प्रयास इस प्रकार रहा— 47860



(१) संक्षिप्त टिप्पणियां लिखने की चेष्टा करें—

१. वैदिक संस्कृत, २. संस्कृत, ३. पाली, ४. प्राकृत, ५. अपभ्रंश।

(२) 'कठिन से सरल की ओर'—क्या यह सिद्धान्त भाषाओं में लागू होता है?

—:o:—

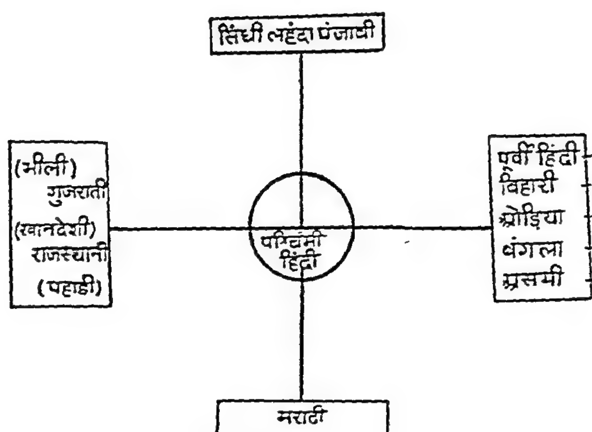
६ आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाएँ

६/१ आधुनिक युग में भारत के उत्तर में कई भाषाएं बोली जाती हैं। उत्तर प्रदेश, दिल्ली आदि के लोग हिंदी बोलते हैं, बंगालियों को बंगला का प्रयोग प्रिय है, गुजरात के लोग गुजराती और पजाब के पंजाबी बोलते हैं। महाराष्ट्र प्रान्त में मराठी बोली जाती है। असम में असमी और उड़ीसा में ओड़िया। पहाड़ी प्रान्तों में विविध प्रकार की पहाडी भाषाएं हैं। राजस्थान में राजस्थानी के अनेक रूप है। इस प्रकार उत्तर भारत मे अनेक भाषाओ का प्रचलन है। पर इन सभी भाषाओं मे कई प्रकार की समानताएं भी देखी जाती हैं–शब्दों की समानता, लिपि की समानता, वाक्य-विन्यास की समानता और अनेक अवस्थाओं में शब्दों के रूप बनाने की समानता। इस 'समानता' का क्या कारण है ? उत्तर स्पष्ट है। इन सभी भाषाओं का मूल-स्थान एक ही है। प्राकृतों से जो विभिन्न अपभ्रंश भाषाएं निकली उन अपभ्रंशों में ही आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के तंतु विद्यमान हैं। इनको इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

१. मागधी	१. बिहारी	
	२. ओड़िया	(सामान्यतः उड़िया नाम से, प्रचलित)
	३. असमी	(आसामी, असमिया आदि नाम भी हैं)
	४. बंगला	(बंगाली भी कही जाती है)
२. अर्द्ध मागधी	५. पूर्वी हिंदी	
३. महाराष्ट्री	६. मराठी	
४. पैशाची	७. लहंदा	(पाकिस्तान क्षेत्र में है, पर नाम अभी तक इधर भी चलता है)
	८. पंजाबी	
५. शौरसेनी	९. पश्चिमी हिंदी	
	१०. राजस्थानी	(राजस्थानी के साथ खानदेशी भी ली जा सकती है)
	११. गुजराती	(गुजराती में भीली भी मिलाई जा सकती है)

	१२. भीली	
	१३. खानदेशी	
	१४. पहाड़ी	(इन्हें कुछ लोग 'खस' के अंतर्गत मानते हैं)
६. व्राचड	१५. सिंधी	(इसका क्षेत्र तो पाकिस्तान में चला गया, पर यह भाषा सिंधियों द्वारा बोली जाती है तथा भारत की राष्ट्र-भाषाओं में अब इसका भी स्थान है)

६/२ ऊपर दी गई आधुनिक भारतीय भाषाओं का वर्गीकरण करने का प्रयास प्रमुखत: दो विद्वानों द्वारा किया गया है। 'भारत का भाषा-सर्वेक्षण' नामक ग्रंथ में सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने इस ओर जो प्रयास किया है, उनके अनुसार इन भाषाओं को तीन उपशाखाओं में बांटा गया है—(१) बहिरंग उपशाखा (२) मध्यवर्ती उपशाखा और (३) अंतरंग उपशाखा। पहली उपशाखा में तीन वर्ग हैं, दूसरी में एक और तीसरी में दो वर्ग—इस प्रकार ६ वर्गों में ऊपर लिखी १५ भाषाओं को विभक्त किया है। सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपनी पुस्तक 'बंगला भाषा की उत्पत्ति और विकास' में यह वर्गीकरण (१) उदीच्य, (२) प्रतीच्य, (३) मध्यदेशीय, (४) प्राच्य तथा (५) दक्षिणात्य वर्गों के आधार पर किया है। दोनों विद्वानों के अपने-अपने मत हैं, और दोनों ही वर्गीकरण प्रचलित हैं। कभी कभी यह प्रश्न भी पूछा जाता है कि आपको कौनसा वर्गीकरण अच्छा लगता है, और आसानी को देखते हुए विद्यार्थी प्राय: यही उत्तर देते हैं कि चटर्जी का वर्गीकरण अच्छा है क्योंकि चटर्जी का वर्गीकरण चारों दिशाओं और मध्य पर आधारित है। चटर्जी का वर्गीकरण—



इसे आसानी से याद किया जा सकता है और बताया भी जा सकता है। परन्तु ग्रियर्सन का वर्गीकरण कदाचित अधिक वैज्ञानिक है, क्योंकि वह भाषाओं की प्रवृत्ति पर आधारित है। पहले ग्रियर्सन का वर्गीकरण प्रकाशित हुआ था, चटर्जी ने उसकी कडी आलोचना की थी और अपना वर्गीकरण दिया। इस आलोचना के आधार पर ग्रियर्सन ने अपने वर्गीकरण पर पुर्नविचार भी किया था। और भी कई लोगों ने अपने-अपने वर्गीकरण प्रस्तुत किए है, परन्तु न तो वे प्रचलित है और न उसके पीछे कोई मान्यताएं हैं।

६/२/१ ग्रियर्सन ने तीन उपशाखाओं की कल्पना की है, एक बाहरी दूसरी भीतरी और तीसरी बीच की। इसके मूल में, हो सकता है, भारतवर्ष में आर्यो के दो बार प्रवेश का सिद्धान्त रहा हो। ग्रियर्सन ने ध्वनि, रूप और शब्द-समूह तीन बातों पर विचार किया, और उन्हें ऐसा दिखाई पड़ा कि इन तीन शाखाओं में समानता के लक्षण है। इन उपशाखाओं को वर्गो में बांटा गया और उनमें भाषाओं को बिठाया गया। भाषा सर्वेक्षण मे यह वर्गीकरण इस प्रकार हुआ--

(अ) बहिरग उपशाखा

(१) पश्चिमोत्तर वर्ग	१. लहंदा
	२. सिंधी
(२) दक्षिणी वर्ग	३. मराठी
(३) पूर्वी वर्ग	४. असमी
	५. बगला
	६. ओड़िया
	७. बिहारी

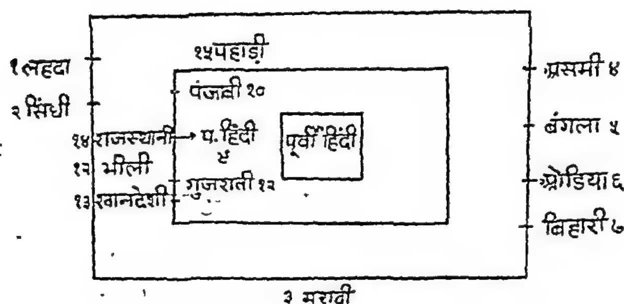
(आ) मध्यवर्ती उपशाखा

(४) मध्यवर्ती वर्ग	८. पूर्वी हिंदी

(इ) अंतरंग उपशाखा

(५) केन्द वर्ग	९. पश्चिमी हिंदी
	१०. पंजाबी
	११. गुजराती
	१२. भीली
	१३. खानदेशी
	१४. राजस्थानी

(६) पहाड़ी वर्ग	१५. पहाड़ी भाषाएँ	i पूर्वी (नैपाली)
		ii पश्चिमी
		iii केन्द्रवर्ती



कुछ समय उपरान्त उन्होंने जो अपना दूसरा वर्गीकरण प्रस्तुत किया उसमें पश्चिमी हिंदी अथवा हिंदी को मध्यदेशीय भाषा मानकर भाषाओं का स्थान अंकित किया। पूर्वी हिंदी को अंतर्वर्ती भाषाओं में शामिल कर दिया और बताया कि वैसे तो इसका संबंध बहिरंग भाषाओं से है परन्तु अधिक निकटता अंतर्वर्ती भाषाओं से है। बहिरंग भाषाएं ज्यों की त्यों रहीं।

६/१/२/१ अपनी नवीन पुस्तक 'आधुनिक भारत की भाषाएं और साहित्य' में चटर्जी ने भाषाओं का वर्गीकरण इस प्रकार लिखा है:—

(१) उत्तर-पश्चिम वर्ग	१. हिंदकी अथवा लहंदा	८५ लाख
	२. सिंधी (कच्छी सहित)	
(२) दक्षिणी वर्ग	३. मराठी (कोंकणी सहित)	४० लाख
(३) पूर्वी वर्ग	४ ओडिया	११० लाख
	५. बंगला	६७० लाख
	६. असमिया (असमी)	२५ लाख
	७. बिहारी	३७० लाख
	मैथिली १०० लाख	
	मगही ६५ लाख	
	भोजपुरी २०० लाख	
	८. हल्बी (बस्तर राज्य की)	१ लाख
(४) पूर्व-मध्यवर्ती वर्ग	९. पूर्वी हिंदी (अथवा कोशली)	२२५ लाख
	अवधी	
	बघेली	
	छत्तीसगढ़ी	

(५) केन्द्रीय वर्ग	१०. हिंदी (पश्चिमी हिंदी)	४१० लाख
	खड़ी बोली { उच्च हिंदी, उर्दू	
	बांगरू और जाटू	
	व्रज भाषा	
	कनौजी	
	बुंदेली	
	११. पंजाबी	१५५ लाख
	१२. राजस्थानी-गुजराती	
	गुजराती ११० लाख	
	राजस्थानी १४० लाख	
	भीली २० लाख	
(६) उत्तरी (अथवा पहाड़ी) वर्ग	१३. पूर्वी पहाड़ी (गोरखाली)	६० लाख
	१४. केन्द्रीय पहाड़ी (गढ़वाली)	१० लाख
	१५. पश्चिमी पहाड़ी (कुलू आदि)	१० लाख

पर चटर्जी का यह वर्गीकरण इतना प्रचलित नहीं है, प्रचलित तो इनका पहले वाला वर्गीकरण ही है।

६/२/२ सुनीतिकुमार चटर्जी ने ग्रियर्सन द्वारा दिए आधारों की आलोचना करते हुए बताया कि उनके वर्गीकरण का आधार ठीक नहीं है। ध्वनि, रूप, शब्द-समूह आदि सभी बातों पर उन्होंने विचार किया। इन्हें अंतरंग और बहिरंग का भेद भी ठीक नहीं जंचा और उन्होंने बताया कि पश्चिमोत्तर की लहंदा-सिंधी को पूर्व की बंगला, असमी आदि के साथ या मराठी के साथ नहीं रखा जा सकता। आधुनिक भारतीय भाषाओं की विविध अपभ्रंश भाषाओं से उत्पत्ति के आधार पर भी ग्रियर्सन की बात ठीक नहीं बैठती। चटर्जी का वर्गीकरण पीछे दिया ही गया है, सामान्य रूप में पुनः प्रस्तुत है—

(क) उदीच्य (उत्तरी) वर्ग

१. सिंधी

२. लहंदा

३. पंजाबी

(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी) वर्ग

४. गुजराती } भीली गुजराती में तथा

५. राजस्थानी } पहाड़ी और खानदेशी राजस्थानी में शामिल

(ग) मध्यदेशीय वर्ग

६. पश्चिमी हिंदी

(घ) प्राच्य (पूर्वी) वर्ग

७. पूर्वी हिंदी

८. बिहारी

९. ओड़िया

१०. बंगला

११. असमी

(ङ) दक्षिणात्य (दक्षिणी) वर्ग

१२. मराठी

यदि चटर्जी और ग्रियर्सन के दूसरे वर्गीकरणों को देखें तो पश्चिमी हिंदी या हिंदी (जो नाम आजकल प्रचलित है) बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि स्थान की दृष्टि से यह मध्य में वर्तमान है, और इसे अन्य सभी भाषाओं का नैकट्य प्राप्त करती है।

६/२/३ ऊपर जिन भाषाओं का विवरण दिया गया है वे आज की भाषाएं हैं इनमें से अनेक संविधान में स्वीकृत हैं और बाकी के लिए प्रयत्न चल रहे हैं। इन भाषाओं को हम बोलते हैं, आज का साहित्य-निर्माण इन्हीं भाषाओं के माध्यम से हो रहा है। इन आधुनिक भारतीय भाषाओं का पूर्ण स्वरूप देखना हो तो वह इस प्रकार है—

आधुनिक भारतीय भाषाएं —
- १. आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाएं (हिन्दी आदि)
- २. द्रविड़ भाषाएं (तमिल आदि)
- ३. प्राचीन आर्य-भाषा—संस्कृत
- ४. विदेशी भाषा—अंग्रेजी

ये भाषाएं वास्तव में काम-काज की भाषाएं हैं और इनको राजकीय मान्यता भी प्राप्त है। वैसे अन्य कई भाषाओं को भी सिखाया जाता है—

सिखाए जाने वाली भाषाएं —
- ५. अरबी—मुसलमानों की धार्मिक भाषा
- ६. फारसी—मुगलकालीन समृद्ध भाषा
- ७. रूसी, जर्मन, फ्रेंच—योरुप की भाषाएं

इसमें 'भारतीय' शब्द देखकर विचलित होने की आवश्यकता नहीं हैं, क्योंकि अरबी और फारसी का पठन-पाठन तो आज भी जारी है, इन

भाषाओं के माध्यम से साहित्य-सर्जन का काम भी बहुत हुआ। रूसी आदि यूरोपीय भाषाएं आजकल प्रचार पा रही हैं और अनेक विश्वविद्यालयों में इनके अध्ययन की व्यवस्था है। रूसी भाषा के अध्ययनार्थ 'रूसी अध्ययन-संस्थान' तथा जर्मन के लिए 'मैक्समूलर भवन' अच्छा कार्य कर रहे हैं। द्रविड़ भाषाओं तथा संस्कृत के संबंध में अन्यत्र चर्चा की जा चुकी हैं। अब आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का कुछ विवरण देना उचित प्रतीत होता है।

६/२/३/१ जब भारतवर्ष विभाजित नहीं हुआ था और पाकिस्तान भी उसका अंग था तब पश्चिमी पंजाब की भाषा लहंदा थी। इसके कई नाम थे जैसे हिंदकी, डिलाही, पश्चिमी पंजाबी। कहा जाता है कि लहंदा में साहित्य का अभाव है, कुछ गीत-साहित्य अवश्य है। इसकी तीन चार विभाषाएं भी हैं जैसे मुल्तानी, पोठवारी, धन्नी और स्वयं लहंदा। इसकी अपनी लिपि भी है और 'लंडा' लिपि कही जाती है। कुछ विद्वान इसे लहंदी भी कह देते हैं क्योंकि 'भाषा' स्त्रीलिंग है और लहंदा कुछ पुल्लिंग सा मालुम होता है पर नाम 'लहंदा' ही है। अब यह भारत की भाषा नहीं है, पाकिस्तान की है, क्योंकि पश्चिमी पंजाब जहां यह बोली जाती थी, पाकिस्तान का ही अंग बन गया है। यह प्रायः रिवाज सा हो गया है कि जब हम भाषाओं की बात करते हैं तो उस पूरे हिन्दुस्तान को लेते हैं जिसमें पाकिस्तान ही नहीं लंका और ब्रह्म-देश भी शामिल थे। मैंने इस पुस्तक में चेष्टा इस बात की की है कि 'भारत' को उसके वर्तमान रूप में लिया जाए, परन्तु वर्गीकरण की बात बिना लहंदा' के कुछ अधूरी लगती है, अतः इसे शामिल कर लिया गया है।

६/२/३/२ वैसे सिंधी भाषा का क्षेत्र भी पाकिस्तान में है, परन्तु भारत में सिंधी बोलने वालों की संख्या बहुत काफी है, इतनी काफी कि कुछ ही समय पूर्व भारतीय संसद ने इसे भारत की राष्ट्र भाषाओं में शामिल कर लिया है। सिंधी सिंध-प्रदेश की भाषा है और आज भी कोई ऐसा स्थान नहीं है जो भारत के अंतर्गत हो और जहां की भाषा सिंधी हो, परन्तु इसे सरकारी मान्यता प्राप्त है। सिंधु नदी के तटों पर बोली जाने वाली इस भाषा की कई विभाषाएं भी हैं, जैसे थरेली, कच्छी, विचोली सिरैकी, लारी। सिंधी का संत-साहित्य काफी अच्छा बताया जाता है। इस भाषा को विवरणात्मक रूप में प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया गया है और 'हिंदी' तथा 'सिंधी' के संबंध को बताने की भी चेष्टा की गई है। इस प्रसग मे लक्ष्मण खूबचदानी का नाम लिया जा सकता है। अनेक संज्ञा पदों में उकार की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसकी लिपि भी लंडा बताई जाती है, पर अब इसे नागरी मे भी लिखने लगे हैं। इस समय यह पाकिस्तान के सिंधी प्रदेश की क्षेत्रीय भाषा है।

इसके उत्तर में लहंदा और पूर्व में राजस्थानी हैं। जैसलमेर का दौरा करने पर जब मैंने वहां की भाषा का अध्ययन किया तो उसमें सिंधी के कुछ लक्षण भी पाए गए। सिंधी के दक्षिण में गुजराती है। अब तो थोड़ी-बहुत मात्रा में राजस्थान, उत्तर प्रदेश और दिल्ली में भी सिंधी साहित्य प्रकाशित किया जाने लगा है।

६/२/३/३ दक्षिणात्य वर्ग की भाषा मराठी एक समृद्ध भाषा है, इसका साहित्य प्रचुर मात्रा में है और वर्तमान समय में भी बहुत गतिशील है। मराठी भाषा के विद्वानों की संख्या तो बहुत है और भाषा-शास्त्र के क्षेत्र में भी मराठी भाषा-विदों का योगदान महत्त्वपूर्ण है। मराठी की एक प्रमुख शाखा कोंकणी है जिस पर प्रामाणिक कार्य करने का श्रेय भारत के सुप्रसिद्ध भाषा-शास्त्री सुमन मगेश कत्रे को है, हैं। मराठी का परिनिष्ठित रूप पूना में लक्षित होता है, और इसी को टकसाली भाषा माना जाता है। मराठी का एक और रूप था जिसे कुछ लोग बरारी कहते थे। मराठी तथा द्रविड़ से मिश्रित एक भाषा और है जिसका नाम 'हल्बी' है, और यह बस्तर में बोले जाने वाली भाषा है। कुछ लोग इसे एक स्वतंत्र भाषा ही मानते हैं, यद्यपि इसके बोलने वालों की संख्या लाख-दो लाख ही है। जहां तक मराठी का संबंध है, इसमें गद्य और पद्य दोनों प्रकार का साहित्य प्रशंसनीय रहा है और पत्रकारिता में भी इसकी धाक रही है। मराठी को ठीक उसी नागरी लिपि में लिखा जाता है जिसमे हिंदी को। एक-दो ध्वनियां जैसे 'ळ' अधिक हैं। मराठी भाषा में तद्धितांत, नामधातु आदि शब्दों का व्यवहार विशेष रूप से होता है। मराठी के स्वराघात पर विचार करते हुए टर्नर ने कहा था कि इसमें वैदिक स्वर के भी कुछ चिह्न हैं। किन्तु अब ये कम होते जा रहे है और एक नया रूप उभरता आ रहा है। मराठी और छत्तीसगढ़ी में कई समानताएं मिलती हैं। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में यह धुर दक्षिण की भाषा है और इसके दक्षिण में द्रविड़ भाषाओं का क्षेत्र आजाता है। पारस्परिक विनिमय का परिणाम ही 'हल्बी' भाषा हो सकती है।

६/२/३/४ पूर्व की भाषाओं मे सबसे दूर की भाषा है 'असमी'। इसे कुछ 'आसामी' कहते है, कुछ 'असमिया' और कुछ 'आसामीज'। यह असम की भाषा है, और बताया जाता है कि इसका प्राचीन साहित्य भी मिलता है। असमी की लिपि बंगला से काफी मिलती है और उच्चारण मे बंगला की 'ओ' प्रवृत्ति भी पाई जाती है—वैसे व्याकरण और उच्चारण दोनों की दृष्टि से बंगला और असमी में पर्याप्त अंतर बताया जाता है। असमी के बारे में एक

बात सुनी जाती है कि इसकी बोलियां अनन्त हैं—एक चोटी से दूसरी चोटी, एक गांव से दूसरे गांव में बोली का अंतर मिलेगा। वैसी असमी की कोई सच्ची विभाषा नही है, परन्तु बोली–वैचित्र्य द्रष्टव्य है। 'असमी' संविधान की स्वीकृत भाषाओं में से एक है, यद्यपि इसके बोलने वालो की संख्या अधिक नही है। यह भाषा तिब्बत-चीनी परिवार के बहुत निकट है, और असम के कुछ सुदूर भागों में इस परिवार की बोलियां भी प्रचलित है, अतः यह स्वाभाविक ही है कि कुछ पारस्परिक आदान-प्रदान चलता हो, परन्तु 'असमी' भारतीय आर्य-भाषा ही है और इसका उद्गम 'मागधी' अपभ्रंश से है। बंगला भाषा के विद्वानों ने इस भाषा के रूप को स्थिर रखने में काफी काम किया है। अब शनैः शनैः असमी का विकास होने लगा है।

६/२/३/५ बंगला एक बहुत ही समृद्ध भाषा है। कुछ लोग तो यहां तक कहते हैं कि आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में 'बंगला' सबसे अधिक समृद्ध है और उसके साहित्य ने अनेक आधुनिक भाषाओं को प्रभावित किया है। बंगला के रवीन्द्र विश्व-प्रसिद्ध है। यहां के कई भाषा-शास्त्री भी अग्रगण्य है, उनमें से एक तो स्वयं चटर्जी ही हैं और दूसरे सेन महाशय कहे जा सकते है। बंगला की अपनी लिपि है और उसकी अपनी विशेषताएं हैं। ओकारान्त दर्शनीय है और 'श' ध्वनि का बाहुल्य भी। अभिव्यक्ति की दृष्टि से बगला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अब बंगाल के विभाजन से पश्चिमी और पूर्वी बगाल में बंगला के दो रूप विकसित होते प्रतीत होते हैं, यद्यपि ग्रामीण बंगला मे यह प्रवृत्ति इतनी अधिक दिखाई नही देती। पाकिस्तानी और भारतीय बगला का अतर आकाशवाणी पर देखा जा सकता है, यह अन्तर इतना तीव्र तो नही है जितना आधुनिक हिंदी और पाकिस्तानी उर्दू का परन्तु कुछ चिंतनीय प्रवृत्तियां लक्षित होती है। बंगला का वर्तमान साहित्य भी द्रुतगति से चल रहा है। उपन्यास, नाटक कहानी, काव्य आदि सभी विधाएं गति-शील हैं।

६/२/३/६ उड़ीसा की भाषा है ओड़िया (उड़िया)। इसे उत्कली और ओद्री नाम भी दिए गए हैं, पर प्रचलित नाम 'ओड़िया' है। 'उड़िया' न लिख कर 'ओड़िया' लिखने का विशेष कारण यह है कि इस प्रान्त के लोग अपनी भाषा का नाम इसी प्रकार बताते है और 'ओ' के स्थान पर 'उ' लिखना ठीक नहीं समझते हैं। ओड़िया का साहित्य भी अच्छा बताया जाता है—नाटक-साहित्य की काफी चरचा सुनी गई है। ओडिया का अपना रंगमंच है और इस दृष्टि से यह काफी आगे है। भक्ति-साहित्य प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है और तंत्र-साहित्य भी। एक स्थान पर ओड़िया, मराठी और द्रविड़ तीनों

मिलती हैं, यहां की भाषा विचित्र है और इसे कुछ लोग 'भत्री' कहते हैं। वैसे ओड़िया की कोई प्रसिद्ध विभाषाएं नहीं हैं। मागधी अपभ्रंश की बहुत सी पुरानी बातें अभी तक ओड़िया में पाई जाती हैं। इसका साहित्य संस्कृत-सदृश अलंकृत है और यह कुछ स्थिर गति से अग्रसर होता रहा है क्योंकि यहां इतनी हल-चलें नहीं हुईं जितनी देश के अन्य भागों में। इसके साहित्य में यहां के निवासियों की श्रम और शान्तिप्रियता लक्षित होती है। ओड़िया लिपि पर भी बंगाली प्रभाव है। प्राय: देखा जाता है कि ओड़िया तथा बंगला बोलने वाले एक दूसरे को समझ लेते है।

६/२/३/७ मागधी-अपभ्रंश से निकली हुई चौथी महत्त्वपूर्ण भाषा है बिहारी। एक प्रकार से बिहारी उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग से ही शुरू हो जाती है, गोरखपुर में इसकी झलक देखी जा सकती है। सविधान में बिहारी भाषा स्वीकृत राष्ट्रभाषा नही है, इसे हिंदी के अंतर्गत ही रखा गया है, पर वैसे बिहारी भाषा सभी भाषाशास्त्रियों द्वारा स्वीकृत एक अलग भाषा है। बिहारी की तीन विभाषाएं मान्य हैं—(१) मैथिली, दरभगा के आसपास बोली जाती है, (२) मगही, पटना और गया में तथा (३) भोजपुरी, गोरखपुर, चंपारन आदि में। कुछ लोग भोजपुरी को एक पृथक् वर्ग में भी रखते हैं। लिपि की दृष्टि से आजकल तो नागरी ही प्रचलित है परन्तु इसके साथ ही कैथी और मैथिली भी देखी जा सकती हैं। बिहारी को हिंदी-प्रान्त के अंतर्गत लिया गया है, और कुछ लोग बिहारी को हिंदी भाषा की ही उपभाषा बताते हैं, जैसे कुछ लोग राजस्थानी को इस प्रकार की भाषा कहते हैं। भोजपुरी एक समृद्ध भाषा है और भाषा तथा साहित्य दोनों दृष्टियों से इस पर काम हुआ है। मैथिली भी इन दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। मैथिली और मगही में बहुत साम्य है, और कुल लोग मगही को मैथिली की बोली बताते हैं। मैथिली को तो इतना महत्त्व मिला है कि पटना, कलकत्ता तथा वाराणसी विश्वविद्यालयों में इसे एक स्वतंत्र भाषा माना गया है। मैथिली के कवि विद्यापति तो अति प्रख्यात हैं।

६/२/३/८ अपभ्रंशों मे एक का नाम है अर्द्धमागधी। इससे उद्भूत आधुनिक भाषा को पूर्वी हिंदी कहा जाता है। हिंदी के दो रूप माने गये हैं—एक पूर्वी जिसको अर्द्धमागधी से विकसित कहा जाता है, और दूसरी पश्चिमी जो शौरसनी से विकसित भाषाओ में एक है। पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों हिंदियों का क्षेत्र मिल कर हिंदी-क्षेत्र होता है, पर आजकल इसका विस्तार और भी दूर तक हो गया है। कुछ लोगो ने पर्वी हिंदी को अर्द्ध-बिहारी कहा है।

साहित्यक और धार्मिक दृष्टि से अर्द्धमागधी भाषा का स्थान ऊंचा रहा है पर राष्ट्रीय दृष्टि से मध्यदेश की भाषा राज्य करती रही है। पूर्वी हिंदी विहारी के काफी निकट है। इसकी तीन विभाषाएं है—अवधी, जिसे कौशली या वैसवाड़ी भी कहा जाता है, वघेली और तीसरी छत्तीसगढी। पूर्वी हिंदी के कवियो ने हिंदी-साहित्य मे उच्च स्थान प्राप्त किया है। पश्चिमी और पूर्वी हिंदी मे भी काफी असमानताएं है। सकर्मक क्रियाओ के भूतकाल में कर्मवाच्य तथा विकारी रूपो का न होना दो प्रमुख अंतर है। अब इस संपूर्ण क्षेत्र पर हिंदी का ही अधिपत्य है और पूर्वी हिंदी का स्वरूप ग्रामीण हो चला है। तुलसी और जायसी की प्रतिभा का प्रस्फुटन अवधी मे ही हुआ। अब भी कभी-कभी अवधी की रचनाएं दिखाई दे जाती है किन्तु उनका प्रयोग हास्य-विनोद के लिए अधिक होता है।

६/ /३/९ पश्चिमी हिन्दी एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण भाषा है और आज इस भाषा का ही एक रूप सविधान द्वारा स्वीकृत राज भाषा है। वैसे पश्चिमी हिन्दी की पांच विभाषाएं कही जाती है—(१) खड़ी बोली, (२) व्रजभाषा, (३) कनौजी, (४) बॉगरू और (५) बु देली। इन विभाषाओं या बोलियों के बारे मे अगले अध्याय में लिखेगे। यहा तो इतना ही कहना उपयुक्त होगा कि शौरसेनी से उत्पन्न होकर आधुनिक भाषाओं में पश्चिमी हिन्दी को समृद्ध होने का वहुत अवसर मिला। आज जिसे 'हिंदी' कहा जाता है वह पश्चिमी हिन्दी की एक विभाषा 'खड़ी बोली' का ही रूप है। सारे देश मे इसी का बोलबाला है और जितना साहित्य प्रकाशित हो रहा है वह भी 'खड़ी बोली' के रूप मे ही है। व्रजभाषा को अतीत का गौरव प्राप्त है। एक समय था जब यह संपूर्ण उत्तर भारत की साहित्यक भाषा थी। व्रज-भाषा के गौरवपूर्ण ग्रन्थ आज भी सम्मान के साथ देखे जाते हैं और उनका वडा प्रचार है। बाकी तीन को अधिक अवसर या सुयोग नही मिला और उनका क्षेत्र सीमित रहा।

६/२/३/१० कुछ वर्षो पूर्व पजाबी के दो रूप प्रचलित थे—पश्चिमी पंजाबी और पूर्वी पजाबी। अब पश्चिमी पजाबी पाकिस्तान में चली गई और पूर्वी यहां रह गई और इसी को भारत मे 'पंजाबी' नाम दिया जाता है। कहा जाता है कि स्वर्णमंदिर के नगर अमृतसर को शुद्ध पंजाबी का क्षेत्र मानना चाहिए। प्राचीन साहितियक गरिमा तो इसे प्राप्त नही, पर आधुनिक युग मे पंजाबी का साहित्य प्रचुर मात्रा मे निर्मित हो रहा है। कहा जाता है इस भाषा को बोलने वाले बलिष्ठ और परिश्रमी किसानो मे कठोरता और सादगी दोनो बाते मिलती है। पश्चिमी की अपेक्षा पूर्वी पंजाबी (जो अब भारत मे है) मे कुछ साहित्य है। हिन्दू-मुसलमान दोनो ने इस भाषा मे लिखा

और यद्यपि इसकी अलग लिपि है जिसे 'गुरमुखी' कहते हैं परन्तु नागरी और फारसी-अरबी लिपियों का प्रयोग भी कर लिया जाता है। वैसे उपयुक्तता की दृष्टि से गुरुमुखी ही प्रमुख है। यहां के बोलने वाले उर्दू में भी दक्ष होते हैं और कुछ व्यक्ति हिन्दी के भी विद्वान हुए हैं। आर्यसमाज तथा सनातन धर्म दोनों की कट्टरता यहां देखी गई थी। पंजाबियों के बारे में उक्ति है कि वे अधिक व्यावहारिक और खरे होते हैं, उनकी भाषा में भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है। पंजाबी में अनुवाद कार्य भी खूब हुआ है। अंग्रेजी, संस्कृत, हिंदी, उर्दू आदि की अनेक कृतियां पंजाबी संस्करणों में उपलब्ध हैं। चटर्जी ने एक स्थान पर कहा था कि पंजाबी को दो शक्तिशाली प्रतिद्वंदियों का सामना करना पड़ता है—एक हिंदी, दूसरा उर्दू। विभाजन के पश्चात् तो पंजाबी पर और भी आघात हुआ परन्तु अब पंजाबी काफी ऊपर आ रही है और इसके कई लेखक भारत में ही नहीं, विदेश में भी प्रसिद्धि प्राप्त कर रहे हैं।

६/२/३/११ कुछ लोग राजस्थानी और गुजराती को साथ साथ लेते हैं। लंदन के कई पुस्तकालयों में जो मुद्रित ग्रन्थ-सूचियां मिलीं उनमें राजस्थानी और गुजराती ग्रन्थों की सूचियां एक साथ ही दी गई थीं। वास्तव में राजस्थानी और गुजराती परस्पर इतनी संबद्ध हैं कि दोनों को अलग करने में कठिनाई आती है। काफी पहले ये दोनों एक ही थीं पर अब दोनों के स्वतन्त्र अस्तित्व हैं। गुजराती की कोई विशेष विभाषाएं तो नहीं हैं परन्तु जो कार्य इस भाषा में किया गया है वह स्तुत्य है। भाषा तथा साहित्य दोनों पक्षों को लेकर अच्छा कार्य किया गया है। उत्तर और दक्षिण की गुजराती में थोड़ा अन्तर भले ही देखा जाए, वैसे गुजराती में प्रायः एकरूपता है। आधुनिक काल में गुजराती का साहित्य काफी समृद्ध माना जाता है। इस भाषा में बोली संबंधी कोई झंझट नहीं हैं, एक ही सर्वमान्य रूप है। पारसी भी गुजराती बोलते हैं, यद्यपि उनके उच्चारण में कुछ भेद हैं। गुजरात के लोग विदेशों में भी व्यापार कर रहे हैं और अपने साथ अपनी भाषा को भी ले गए हैं। अनूदित और मौलिक दोनों प्रकार की कृतियां मिलती हैं। हिंदी भाषियों को गुजराती समझने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती, और यदि आप राजस्थान के हों तो और भी आसानी होती है। सं. १६०० तक गुजराती और मारवाड़ी (राजस्थानी) एक ही भाषा थीं। गुजरात के भाषा तथा साहित्य-विशारद प्रख्यात हैं।

६/२/३/१२ भीली बोलियां आदिवासी भीलों द्वारा बोली जाती हैं। इनका कोई साहित्य नहीं है, और अब भीलों के लड़के-लड़कियां हिंदी सीखने लगे हैं। कुछ लोग इसे गुजराती के अंतर्गत ही मान लेते हैं। इसका अलग

विवरण लिखना भी कुछ उपयोगी नहीं है केवल उपचारवश इसको अलग दिखाया गया है।

६/२/३/१३ खानदेशी : जो स्थिति 'भीली' की है लगभग वही खानदेशी की है। भीली को गुजराती और खानदेशी को राजस्थानी के अंतर्गत लिया जाता है। ग्रियर्सन ने इसे एक अलग भाषा माना है, पर चटर्जी ने इसे अलग नहीं माना है और राजस्थानी में ही शामिल किया है। इसका भी साहित्य नगण्य है और आजकल इसका महत्त्व भी नहीं है।

६/२/३/१४ गुजराती और राजस्थानी को एक वर्ग में शामिल करने की बात ऊपर बताई गई है। परन्तु सामान्यत: दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व है। यह एक संयोग की बात है कि जहां गुजराती को एकरूपता प्राप्त है और उसमें विभाषाओं की कोई बात नहीं उठती, वहां राजस्थानी की कई विभाषाएं हैं और काफी महत्त्वपूर्ण। यही कारण है कि राजस्थानी की एकरूपता का प्रश्न हल होता दिखाई नहीं देता। जब सिंधी को संविधान स्वीकृत राष्ट्रभाषा बनाया गया तो राजस्थानी का प्रश्न भी संसद के सामने आया परन्तु एकरूपता के प्रश्न पर समाधान न मिलने पर राजस्थानी को स्वीकृत राष्ट्रभाषाओं के अंदर शामिल नहीं किया गया। राजस्थानी बोलने वालों की संख्या काफी है और क्षेत्रफल के हिसाब से विस्तार भी बहुत है। इसकी प्रमुख बोलियां मेवाती, मारवाड़ी, ढूंढाड़ी, हाड़ोती और मालवी मानी जाती हैं। मारवाड़ी का पुराना साहित्य डिंगल के नाम से अति प्रख्यात है। राजस्थानी के अध्ययन में इटैलियन विद्वान तिस्सीतोरी का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। वैसे ऐलन, फ्राउवालनर, ओबरहेमर, ऐताइन आदि यूरोपियन विद्वान भी इस भाषा में बहुत अभिरुचि रखते हैं। इसकी प्रत्येक बोली का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन भी प्रगति पर है। राजस्थानी, राजस्थान के बहुत बड़े क्षेत्र की भाषा है, परन्तु राजस्थान के पूर्व भरतपुर, धौलपुर, करौली आदि में व्रजभाषा बोली जाती है। हिंदी के प्राचीन साहित्य को राजस्थान की देन बहुत मूल्यवान है। राजस्थानी एक जीवित भाषा है। इसमें साहित्य का निर्माण भी होता है, पत्र-पत्रिकाएं भी हैं परन्तु क्षेत्र को देखते हुए काम सीमित प्रतीत होता है, राजस्थान के सेठ बंगाल, मद्रास और बम्बई में प्रतिष्ठा प्राप्त हैं, और ये लोग अपने घर तथा व्यवसाय में राजस्थानी का प्रयोग भी करते हैं।

६/२/३/१५ उत्तर प्रदेश के उत्तर में बोले जाने वाली भाषाएं पहाड़ी भाषाओं के नाम से जानी जाती हैं। पहाड़ी भाषाओं पर राजस्थानी का बहुत प्रभाव है, शौरसेनी अपभ्रंश से इनको भी उद्भूत माना जाता है। पहाड़ी भाषाएं तीन हैं—(१) पूर्वी पहाड़ी, खसकुरा अथवा नैपाली, (२) केन्द्रस्थ

पहाड़ी तथा (३) पश्चिमी पहाड़ी। पूर्वी पहाड़ी नेपाल की प्रधान भाषा है, इसीलिए इसका नाम नेपाली भी है। पहले, कुछ लोग, इसको परबतिया या खसकुरा भी कहा करते थे परन्तु अब तो इसका नाम 'नेपाली' प्रचलित है, और आधुनिक काल में नेपाली में काफी साहित्य प्रस्तुत किया गया है। केंद्रस्थ पहाड़ी गढ़वाल तथा कुमाऊं में बोली जाती है। इस भाषा में साहित्य का निर्माण होने लगा है। लिपि नागरी ही है। पश्चिमी पहाड़ी बहुत सी पहाड़ी बोलियों का समूह है। साहित्य भी कम ही पाया जाता है, पर ग्राम-गीत काफी हैं और क्षेत्र भी विस्तृत है। सिरमौर, शिमला, मंडी, चंबा, भदरवार आदि इसी के क्षेत्र में आते हैं। इसकी लिपि 'टकरी' कही जाती है। नेपाली को नेपाल सरकार की राजभाषा होने का गौरव प्राप्त है। साहित्यक जीवन में नेपाली उच्च हिंदी का प्रतिबंब कहा जाता है। भानुभक्त एक प्रसिद्ध कवि हुआ है जिसकी नेपाली रामायण बहुत प्रसिद्ध है। अन्य दो भाषाओं को राजकीय प्रोत्साहन इतना नहीं मिला अतः उनका विशेष विकास भी नहीं हुआ। हिंदी का प्रचार इन क्षेत्रों में काफी बढ़ गया है फिर भी काफी लोग इन भाषाओं को बोलते हैं।

६/२/३/१६ यद्यपि काश्मीरी 'आर्य भाषा' नहीं है फिर भी इसकी कुछ चर्चा आवश्यक है। काश्मीरी का संबंध आर्य उपपरिवार के 'दरद' वर्ग से है। इस पर क्रमशः संस्कृत, फारसी और उर्दू का प्रभाव पड़ता रहा है। काश्मीर के अनेक संस्कृत पंडितों की बात तो सब लोग जानते ही हैं। अपनी पुरानी शारदा लिपि को छोड़कर काश्मीरी ने फारसी-अरबी लिपि को अपनाया है। उच्चारण की दृष्टि से यह भाषा कठिन है। काश्मीरी में काव्य-रचना बहुत हुई है, गद्य-साहित्य इतना नहीं मिलता। यह भी संविधान-स्वीकृत भाषा है।

६/३ भारत में बोले जाने वाली भारतीय आर्य भाषाओं के आधुनिक रूप का किंचित परिचय करा दिया गया है। अधिक परिचय के लिए ग्रियर्सन का सर्वे देखें या चटर्जी की 'बंगाली भाषा की उत्पत्ति और विकास' की भूमिका पढ़ें। वर्णित भाषाओं का क्षेत्र साथ दिए गए चित्र से स्पष्ट हो जाता है। सुविधा के लिए चित्र में 'सिंधी', लहंदा और बंगला भाषाओं के क्षेत्र भी दिखा दिए गए हैं. यद्यपि इन क्षेत्रों का बहुत सा भाग अब हिंदुस्तान का अंग रहकर पाकिस्तान में समाहित हो गया है।

नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर लिखें—

(१) ग्रियर्सन और चटर्जी के वर्गीकरण का स्पष्टीकरण कीजिए।

(२) टिप्पणियां लिखिए—

(i) राजस्थानी,

(ii) पश्चिमी हिंदी तथा

(iii) बंगला ।

(३) बताइए—

(i) उत्तर भारत की किन-किन भाषाओं में अधिक साम्य है ?

(ii) किन भाषाओं में अधिक वैषम्य है ?

(iii) इन सभी भाषाओं को एक ही वर्ग में मानने का क्या कारण है ?

—:o:—

७ | हिंदी की विभाषाएँ या ग्रामीण बोलियाँ

७/१ हिंदी के कई अर्थ हैं। कुछ लोग तो हिन्दुस्तान के रहने वालों को ही हिंदी कहते हैं। 'हिंदी-रूसी भाई-भाई' आदि नारे सुने जाते हैं। जब कोई जहाज भारतीय मुसाफिरों को लेकर पोर्टसैयद या अदन पहुंचता है अथवा स्वेज पर रुकता है तो उस जहाज के सभी यात्री 'हिंदी' कहलाते हैं। पर 'भाषा' के प्रसंग में 'हिंदी' का अर्थ सीमित होता है। यह सीमाएं भी अनेक प्रकार की हैं—

(१) हिंदी—पश्चिमी हिंदी खड़ीबोली का प्रचलित रूप।
(२) हिंदी—पश्चिमी हिंदी।
(३) हिंदी—पश्चिमी हिंदी + पूर्वी हिंदी।
(४) हिंदी—मध्यदेश की भाषा अर्थात्
दिल्ली + उत्तर प्रदेश + हरियाणा + हिमांचल प्रदेश + राजस्थान + विहार + मध्यप्रदेश की भाषा।
(५) हिंदी—संपूर्ण भारत की भाषा।

इन सभी का अपना-अपना महत्त्व है। हिंदी का जो रूप प्रचलित है वह पश्चिमी हिंदी की एक बोली, विभाषा या ग्रामीण बोली-'खड़ीबोली' का ही रूप है। 'हिंदी' की दूसरी सीमा पश्चिमी हिंदी तक मानी जाती है, क्योंकि पूर्वी हिंदी को कुछ लोग बिहारी में शामिल करते है। हिंदी का अधिक विस्तृत रूप उस सारे क्षेत्र में बोला जाता हैं जो पश्चिमी और पूर्वी हिंदी का क्षेत्र माना जाता है। व्यवहार की दृष्टि से, और अब संवैधानिक दृष्टि से भी 'हिंदी' उस क्षेत्र की भाषा है जो उत्तर प्रदेश और साथ ही दिल्ली, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, विहार और मध्यप्रदेश में व्यावहारिक रूप से प्रचलित है—वहां की राजभाषा हिंदी है, शिक्षा संस्थाओं और कचहरियों में भी इसी भाषा का प्रयोग होता है। संविधान में जो बात स्वीकार की गई है, उसके हिसाब से हिंदी सारे देश की भाषा हैं और बहुत स्थानों पर तो पहले से ही यह मान्यता रही है कि हिन्दुस्तान के लोग और भाषा 'हिंदी' ही हैं। अब भी विश्व के भाषा-मानचित्र पर भारत की भाषा प्रायः 'हिंदी' ही बताई जाती है।

७/२ भाषा-शास्त्र में हिंदी को दो भागों में पाया जाता है—

हिंदी = पश्चिमी हिंदी + पूर्वी हिंदी।

व्यवहार में कुछ लोग

हिंदी = पश्चिमी हिंदी + पूर्वी हिंदी + बिहारी + राजस्थानी।

भी मानते है। परन्तु भाषा-विज्ञान के ज्ञाताओं में से प्रायः सभी ने इस बात का प्रतिपादन किया है कि 'बिहारी' और 'राजस्थानी' दो अलग-अलग भाषाएं हैं और उनका वैज्ञानिक स्तर वैसा ही है जैसा अन्य किसी आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा का। सुविधा पूर्वक कार्य-संचालन की दृष्टि से बिहार तथा राजस्थान दोनों में हिंदी को ही राजभाषा माना गया है। राजस्थान और बिहार में प्रादेशिक भाषा के रूप में हिंदी ही सरकार और प्रायः जनता द्वारा मान्य है, और इस प्रसंग पर काफी विवाद देखा जाता है कि ये भाषाएं नहीं है हिंदी की बोलियां मात्र हैं। मैं इस मत से सहमत नहीं, अतः हिंदी का विवरण प्रस्तुत करते समय केवल उन्हीं बोलियों को शामिल करूंगा जो पश्चिमी हिंदी तथा पूर्वी हिंदी के अंतर्गत मानी जाती हैं। उपसंहार के रूप में राजस्थान की विविध बोलियों का संक्षिप्त विवरण भी प्रस्तुत कर दिया जाएगा।

७/३ पश्चिमी हिंदी की पांच बोलियां (विभाषाएं या ग्रामीण भाषाएं) प्रचलित हैं :—

पश्चिमी हिन्दी
- (i) खड़ी बोली, (ii) बाँगरू — एक वर्ग
- (iii) ब्रजभाषा, (iv) कन्नौजी, (v) बुंदेली — दूसरा वर्ग

बोलियों के रूप में इन सभी का अस्तित्व है। ब्रजभाषा का मध्य-कालीन और खड़ीबोली का आधुनिक साहित्य किसी भी भाषा के लिए गौरव के विषय हैं। अन्य तीन का बोली-महत्त्व ही माना जाता है।

७/३/१ राष्ट्र की भाषा, राजभाषा आदि के रूप में खड़ीबोली स्थापित हो चुकी है। ब्रज की भाषा 'ब्रजभाषा', कन्नौज की 'कन्नौजी', बांगर की भाषा 'बांगरू' और बुंदेलखंड की भाषा 'बुंदेली' हैं। 'खड़ी बोली' किस स्थल, प्रदेश नगर पर नामांकित की गई है—इसका कोई उत्तर नहीं मिलता। कहा जाता है हिंदी-साहित्य में यह नाम पहले-पहले लल्लूलाल के लेख में मिलता है। मुसलमानों ने जब इसे अपनाया तो इसे 'रेख्ता' नाम दिया—रेख्ता का अर्थ होता है 'गिरता' या 'पड़ता'। क्या इसी गिरी या पड़ी भाषा के नाम का

विरोध सूचित करने के लिए इसका नाम 'खड़ी' बोली रखा गया ! या यह 'खरी' का बिगड़ा हुआ रूप है। कोई बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जाती। कुछ लोग इसे 'अन्तर्वेदी' कहने के पक्ष में थे, परन्तु जब 'खड़ीबोली' नाम चल पड़ा है तो ठीक है। वैसे यह बोली मेरठ, बिजनौर, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर आदि के आस पास बोली जाती है—इसकी सीमा किसी प्रकार दिल्ली तक भी पहुंच जाती है। पर आज यह संपूर्ण देश की भाषा है। इसके कुछ रूप डा० उदयनारायण तिवारी की पुस्तक से नीचे दिए जा रहे हैं —

ग्रामीण खड़ी बोली :

कोई बादसा था। साब उसके दो राण्यां थी। एक के तो दो लड़के थे और एक के एक। वो एक रोज अप्नी रान्नी से केने लगा, 'मेरे सामने कोई बादसा है बी ?' सो बड़ी बोली के राजा तुम समान और कोन होगा, बेस्सा तुम बेस्सा और कोई नई। छोट्टी से पुच्छा के तुम बी बतला मुज समान कोई भी राजा है के नई ? कि राजा मुज्से मत बुज्झो।

हिन्दुस्तानी :

सन् १८५७ ई० के गदर में खास करके सिपाही लोग शरीक हुए थे। कहीं-कहीं, जैसे अवध में, आम लोग भी शरीक हुए थे। उन्हें डर इस बात का था कि अंग्रेजी सरकार उनकी जाति को नाश करने की कोशिश कर रही है। उनका मतलब यह कभी न था कि वे अंग्रेजों से इस देश को जीत लेवें और अपनी रियासत कायम करें।

साहित्यक हिंदी :

कुछ विद्वानों का यह आक्षेप है कि शरत् ने अपनी कृतियों में उन्हीं पुरुष-पात्रों को चित्रित किया है जो नारी-हृदय की महत्ता का शिकार हो चुके हैं; और यह अनुचित है। परन्तु यह धारणा बहुत अधिक समीचीन नहीं कही जा सकती क्योंकि आज के सामाजिक जीवन में भले ही पुरुष की महत्ता नारी से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी हो, फिर भी स्वयं पुरुष के ही निर्माण में नारी का बहुत बड़ा हाथ है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

उर्दू :

हमारे पेट की नामुराद सड़कों की मरम्मत हो और हमारे टूटे हुए दिलों पर भी इमारतें चुनवाओ। हम भी पुराने जमाने की निशानियां हैं। हमको भी जिन्दा आसार कदीम में लोग समझते हैं। हमको भी सहारा दो, मिटने से बचाओ। खुदा तुमको सहारा देगा और बचाएगा।

हिंदी के ये सभी रूप चलते हैं, पहला बोलने में और बाकी तीन लिखने में या सार्वजनिक भाषणों में। पहले का वातावरण घरेलू है और अन्य का सार्वजनिक।

७/३/१ खड़ीबोली का महत्त्व तो आधुनिक काल में इसका प्रतिपादित हुआ है, कि हिंदी-साहित्य के वर्तमान युग को कुछ लोग 'खड़ीबोली काल' कहना पसंद करते हैं, वैसे खड़ीबोली के नमूने तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दी में ही मिल जाते हैं। १९ वीं शताब्दी में अंग्रेज अधिकारियों द्वारा खड़ीबोली मद्य के कुछ प्रयोग कराए गए, और आज तो यह बोली एक बहुत ही समृद्ध रूप में लक्षित होती है। इस बोली के कई नाम सुनाई पड़ते हैं। दखनी-दिल्ली की वह बोली जो दक्षिण में लेजाई गई। रेख्ता-दखनी का मिश्रित रूप। स्त्रियों के लिए यही बोली रेख्ती हुई। शाही पड़ावों में फारसी से प्रभावित होती हुई यही उर्दू बनी। हिंदी-हिंदुओं द्वारा प्रयुक्त वह बोली जिस पर फारसी का प्रभाव नहीं था। हिंदी-उर्दू तथा शब्दों की दृष्टि से विदेशी हिन्दुस्तानी अंग्रेजों के मस्तिष्क की उपज है। लिपियों की दृष्टि से उर्दू फारसी-अरबी लिपि में लिखी जाती है, हिंदी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। एक समय था जब फौज में रोमन लिपि को अपनाया गया था, आज भी कुछ लोग इसके समर्थक हैं।

७/३/२ बांगरू हिंदी की एक अन्य विभाषा है। इसको ही जाटू और हरियानी कहा जाता है—दोनों नामों के कारण हैं। इसके बोलने वालों में जाटों की संख्या काफी है, और यह हरियाणा प्रान्त की भाषा है। अब तो हरियाणा नाम का अलग राज्य बनगया है और कुछ लोगों की कल्पना 'विशाल हरियाणा' की भी है। बांगरू का रूप दिल्ली में भी प्रचलित है, पर इन दिनों दिल्ली की भाषा इतनी विचित्र है कि उसमे पंजाबी, बांगरू, खड़ी बोली आदि कई भाषा-विभाषाओं का मिश्रण होने लगा है। पर जब दिल्ली पर भाषाओं का इतना अधिक दवाब नहीं था तब राजधानी के आसपास बांगरू ही सुनी जाती थी। हिसार, रोहतक, करनाल आदि तो इसके क्षेत्र हैं ही। कुछ लोगों का अनुमान है कि निकटवर्ती राजस्थानी, पंजाबी और खडी बोली तीनों का यह खिचड़ी रूप है। ऐसा कहना समुचित प्रतीत नहीं होता, इन भाषाओं से प्रभावित कहा जा सकता है, वैसे बांगरू का अपना स्वरूप है। भारत की भाग्य-रेखा को कई बार अंकित करने वाला पानीपत क्षेत्र भी इसी के अंतर्गत है और कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में इसके स्वरूप को वर्णित-व्यवस्थित करने का काम भी चलता है। जगदेवसिंह बांगरू भाषा के अच्छे विद्वान है और उसके स्वरूप का वर्णन सफलता के साथ कर चुके हैं। व्यजनों का द्वित्व यहां भी देखने में आता है। करनाल जिले का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

एक माणस–कै दो छोरे थे। उन-मैं-तैं छोट्टे छोरे-ने वाप्पू-तैं कह्या अक वाप्पू धान-का जौण-सा हिस्सा मेरे वांडे आवे-सै मन्नै दे-दे। तो उसन्ने धन उन्हे बांड दिया। अर थोड़े दिनां पाछै छोट्टा छोरा सब कुछ कट्ठा कर-कै परदेस-ने चाल्या-गया अर उड़ै अपणा धन खोट्टे चलण-मैं खो-दिया। अर जद सार खो-खिडा दिया उस देस में वड़ा काल पड़ा अर कंगाल हो-गया। फेर एक साहूकार-कै नोक्सर लाग-गया। उसने अपने खेता-मैं सूर चरावण घाल्ल्या।

'न' के स्थान 'ण' भी दिखाई देता है—माणस, चलण, जौण, अपणा 'ड़' से स्थान पर 'ड्' मिलता है जैसे 'वड़ा' के स्थान पर 'वडा'। 'को' के स्थान पर 'ने' भी दिखाई देता है—'परदेस-ने'। सर्वनाम के अनेक रूप मिलते हैं 'सू'' 'तूं'' 'तन्ने', 'था-ने'। क्रिया, लिंग, वचन आदि सभी के भेद देखे जा सकते है।

७/३/३ जहां खड़ीबोली और बाँगरू का एक वर्ग है; वहां ब्रजभाषा, कन्नौजी और बुंदेली का दूसरा वर्ग है। जो लोग बाँगरू और ब्रजभाषा को एक वर्ग में रखना चाहते हैं वे हठ करते प्रतीत होते हैं। पश्चिमी हिन्दी को यदि क्षेत्र के विचार से विभाजित करें तो दो क्षेत्र आते हैं—उत्तरी और दक्षिणी। उत्तर में बाँगरू और खड़ीबोली हैं तथा दक्षिण में अन्य तीन—ब्रजभाषा, कन्नौजी और बुंदेली (इसे कुछ लोग बुंदेलखंडी भी कहते हैं)। इन बोलियों में ब्रजभाषा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यदि यह कहा जाय कि पश्चिमी हिंदी में साहित्य की भाषा ब्रज ही रही है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। खड़ी बोली का प्रचार तो अब सौ-सवासौ साल से बढ़ा है। साहित्य और काव्य की भाषा तो ब्रज ही रही है। हिन्दी-साहित्य का संपूर्ण मध्यकाल इसी की क्षमता से गौरवान्वित है। सूर, तुलसी, रसखान, बिहारी, घनानंद आदि ने अपनी काव्य-माधुरी इसी भाषा के माध्यम से प्रवाहित की जो अब तक साहित्य-प्रेमियों को रसपान कराती आरही है। ब्रजभाषा बोलने का प्रदेश वैसे तो ब्रजमंडल कहलाता है जिसके लिए कहा गया है—

ब्रज चौरासी कोस में चार गाँव निजधाम।
वृन्दावन अरु मधुपुरी बरसानो नँदगाम॥

परन्तु ब्रज का क्षेत्र काफी आगे तक चला जाता है। कासगंज से आगे बदायूं तक इसकी झलक मिलती है। इसका विशुद्ध रूप मथुरा, आगरा, भरतपुर, धौलपुर, अलीगढ़ आदि में मिलता है। ब्रजभाषा को बहुत ही मधुर भाषा कहा गया है, इतनी मधुर कि कुछ तो इसको द्वेषवश 'जनानी भाषा' कह देते हैं।

भरतपुर की ब्रजभाषा का नमूना देखिए—

एक जनें के दो छोरा हे। और विन-मैं-तैं लोटे छोरा-नें अपनैं दाऊ-तैं कही, 'दाऊजी धन-मेंतें जो मेरे बट-पें आवै सो मो-कूँ देउ। और वा-नें

अपनों धन विन-कूँ बाँट दियो। और घनें दिन नांइ बीते छोटो छोरा अपनें बट-कूँ इकट्ठो लै-कैं दूर देस-कों डिगिर-गयो और वहाँ लुच्चपनें-में अपनों धन विगार दियो। और जब वा-पै-तें सब उठ-गयो तब वा देस-में बड़ो भारी जवाल पर्यो और वो भूखों मरिवे लग्यो। तब वो चल-दियो और वा देस-के एक रहवैआ-के यहां जाइ रह्यो। और वा-नें वा-कूं अपने खेतन-में सूअर घेरवे-पै कर-दियो।

मथुरा, आगरा, अलीगढ़, बदायूं आदि सभी जिलों की बोलियों में कुछ परिवर्तन मिलेंगे। मथुरा की बोली में इसका रूपान्तर इस प्रकार होगा—एक जने-के दो छोरा हे। उन में ते लोहरे ने कही कि काका मेरे बट को धन मोए दे। तब वा ने धन उन्है बांटि करि दियो। और थोरे दिनां पाछे लोहरे बेटा ने सिगरो धन इकठोरो करि के दूर देसन कुं चल्यौ और वा जगै अपनो धन उड़ाय दियो। और जब सिगरो धन खर्च कर चुक्यो वा देस में बड़ो अकाल पड़्यो और वह कंगाल होन लागो। तो एक बड़े आदमी के जाइ लगो और वानै वाए सूअर चराइवे कुं अपने खेतन में पठाइयो।

७/३/३/१ ब्रजभाषा क्षेत्र में 'र' के स्थान पर परवर्ती व्यंजन का द्वित्व हो जाता है जैसे ∾ 'उद्द'; 'मर्द' ∾ 'मद्द'। 'व' 'ब' हो जाता है और 'म' में भी बदलता हैं। 'वहां' ∾ 'म्हां'। बहुवचन में 'न' बढाते हैं। 'छोरा' (एक व०) 'छोरान' (ब० व०) 'खेत' (एक व०) 'खेतन' (ब० व०)। 'औकारांत' को विशेषता दिखाई देती है—'चल्यौ', 'घर कौ', 'छोटौ', 'पड़्यौ', 'दियौ'। किसी-किसी जगह 'मैं' के लिए 'हौ' या 'हूं' का प्रयोग भी होता है। 'मुझ को' 'तुझ को' स्थान पर 'मोय' 'तोय' ऐसे शब्द सुनाई पड़ते हैं। 'इसको', 'उसको' के लिए 'याय', 'वाय' भी सुनाई दे जाते हैं। वैसे इनके कई रूप है, जैसे 'याय' 'याहि' 'याए' और 'वाय' 'वाहि' 'वाए'। कर्म-सम्प्रदान में 'कुं', 'कूं', 'कौं', 'कै', 'कें' आदि मिलते है तो अपादन-करण में 'सों', 'सूं', 'तें', 'ते', आदि रूप देखे जाते हैं। विविधता बहुत है परन्तु ब्रजभाषा के महत्त्व का आधार मध्यकालीन हिंदी-साहित्य है।

७/३/४ कन्नौजी गगा के मध्य दोआब की बोली है। साहित्य-रचना इसमें भी हुई पर साहित्यिक कन्नौजी और ब्रजभाषा में इतना कम अंतर है कि कन्नौजी में लिखा गया सपूर्ण साहित्य ब्रजभाषा के अंतर्गत ही आ जाता है। 'कन्नौजी', 'कनौजी' दोनो नाम चलते है। 'कान्य-कुब्ज' (ब्राह्मणों का एक वर्ग) का विकसित रूप ही कन्नौजी है, कुछ लोग इसे 'कनवजी' भी कहते हैं। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत नही है और कानपुर पहुंचते-पहुंचते इस पर दूसरे प्रभाव पड़ने लगते हैं। साहित्यिक भाषा के रूप में, जैसा पहले संकेत किया जा

चुका है, कन्नौजी पड़ोस की ब्रजभाषा से दब सी गई है। चिंतामणि त्रिपाठी, मतिराम, भूषण और नीलकंठ त्रिपाठी नाम के चारों भाई इसी क्षेत्र के थे। ब्रजभाषा और कन्नौजी में अंतर भी कम है। ब्रजभाषा का "अ" कन्नौजी में 'ओ' का रूप लेता दिखाई देता है। संबंध वाचक संज्ञाएं 'आकारान्त' ही रहती हैं एकारान्त नहीं होती (लरिका को–लरिके को नहीं) 'यह' तथा 'वह' 'जो' और 'वो' के रूप में पाए जाते हैं। भूतकाल में ऐसे रूप देखे जाते हैं— 'गओ' (गया), 'दओ' (दिया), 'लओ' (लिया) सर्वनाम 'वह' के रूप 'व्रहि' 'उहि', 'वउ', 'वहु', तथा यह' के रूप 'यहु', 'यिहु', 'इहु', 'यो' 'जो' आदि मिलते है। अपादान-करण कारक के 'से', 'सेती', 'सन', 'तें', 'करि' आदि रूप उपलब्ध होते हैं। जिला हरदोई का उदाहरण देखें—एक आदमी के दुई लरिका हते। तेहि-मां-ते जो छोटा लरिका हतो सो अपने बाप-पर कहन लागो कि जो कुछु रुपया हमारे हींसा-को होइ सो बांटि देउ। तब बाप-ने बाहि-के हींसा-को रुपया बांटि दओ। तब छोटो लरिका अपनो हींसा लेइ-के परदेसइ चलो-गओ और हुआं सब रुपया कुचाल-में उड़ाइ दओ। और जब बनाइ-के खरखीन हुई-गओ तब कुछु दिनन-के पीछू वहि देस-मां अकाल परो। तब वहु केहु बड़े अमीर-के दुआरे गओ। तब वहि-ने वहि-का खेतन-मां सुअरी चैरवे-पर करि दओ।

शाहजहांपुर में 'मां' का 'महियां' देखने को मिलैगा, पर कानपुर में 'मां' ही मिलेगा।

७/३/५ बुंदेली अथवा बुंदेलखंडी निश्चय ही बुंदेलखंड की भाषा है। बोलने वाले बुंदेले कहे जाने चाहिए। बांदा, हमीरपुर, जालौन, झांसी आदि इस क्षेत्र में आते हैं। ग्वालियर, भोपाल, ओड़छा तक भी इसकी सीमाएं हैं। इसका ही कुछ बदला हुआ रूप दतिया, पन्ना, चरखारी, छिंदवाड़ा आदि में बोला जाता है। यहां के अनेक साहित्यकार जैसे केशव, पद्माकर, पजनेस हिंदी-साहित्य में प्रसिद्ध हुए हैं परन्तु उनकी भाषा ब्रजभाषा के अंतर्गत आती है, कुछेक पर बुंदेली प्रभाव अवश्य देखा जाता है। बुंदेली में साधारणत: एक-रूपता मिलती है। व्यंजनों में 'ड़' का 'र्' (घोरा, दौरके) 'ही' का 'ई' (कईलकही) मिलते हैं। 'बेटी' का 'बिटिया' और 'घोड़ा' का 'घुरवा' देखे जाते हैं। 'और' के लिए 'ओर' मिलता है– द्रष्टव्य है कि जयपुर में भी 'ओर' ही मिलता है। 'अइवा' से अंत होने वाले अनेक शब्द मिलते हैं—'बलइवां' 'चिरइवां' 'खड्वां'। संबंध कारक में 'मेरा' के रूप 'मो-को' 'मेरो', 'मोरो', 'मोवा' आदि मिलते हैं, और 'तेरा' के रूप 'तो-को', 'तेरो', 'तोरो' 'तोना' आदि पाए जाते हैं।

झांसी जिले का एक उदाहरण प्रस्तुत है :

एक जने-के दो मोड़ा हते। ओर ता-में-सें लोरे-ने अपने दद्दा-से कई धन-में-सें मेरो हिस्सा मो-खों देइ राखो। ता-के पीछे ऊं-ने अपनो धन बरार दओ। बिलात दिना नईं भये हते लौरो मोड़ा सब कछू जोर-कें पल्ले मुलक चलो-गओ और हुना वा-ने कुकर्मन में अपनो सबरो धन-गमा-दओ। जब वा-ने सब कछू उडा-दै बैठो तब वा मुलक-में बडो काल परो और वो मांगनो हो गओ। ता-खो पीछे वा ने उस मुलक-के रहाइयन-में-से एक जने-के ढिगा रन लगो। वा-ने वा-खों अपने खेत में सुंगरा चराबे-कें-लाने पठै-दओ।

ऊपर के उदाहरण में यह भी देखा गया कि यत्र तत्र मध्यवर्ती 'ह' का लोप हो गया है—'लोरे' (लोहरे) 'रन' (रहन)

७/४ पश्चिमी हिंदी की पांचों बोलियों का, या कहिए विभाषाओं का, विवरण देने के उपरान्त पूर्वी हिंदी के रूप भी प्रस्तुत किए जा रहे हैं। जैसा बताया जा चुका है पूर्वी हिंदी की ३ विभाषाएं प्रसिद्ध हैं—

पूर्वी हिन्दी —
- (i) अवधी (कोशली, बैसवाड़ी)
- (ii) बघेली
- (iii) छत्तीसगढ़ी

पूर्वी हिंदी अर्द्ध मागधी से विकसित हुई। इसमें मागधी तथा शौरसेनी दोनों की विशेषताएं देखी जाती हैं। सीमा की दृष्टि से उत्तर में सीतापुर और दक्षिण में कांकेर हैं। इधर पश्चिम में उन्नाव और पूर्व में सुलतांपुर, फैजाबाद है। बोलियों की दृष्टि से पश्चिम में कन्नोजी और बुंदेली है तथा पूर्व में भोजपुरी। उत्तर में पहाडी भाषाएं और दक्षिण में मराठी। इन तीनों में अवधी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

७/४/१ 'अवधी' अवध की भाषा है। अवध का प्रचीन नाम 'कोशल' भी है अतः इसे 'कोशली' भी कहा जाता है। बैसवाड़ भी इसी क्षेत्र का नाम है अतः 'बैसवाड़ी' शब्द का भी प्रयोग होता है। लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, फतेहपुर, अयोध्या, इलाहाबाद में यह भाषा बोली जाती है। कुछ लोग इसे केवल 'पुरबिया' या 'पूर्वी' भाषा भी कहते है। साहित्य की दृष्टि से इसका अतीत भी इतना ही गौरवपूर्ण रहा है जितना ब्रजभाषा का। काव्य की भाषाए ही दो थी—उधर ब्रजभाषा और इधर अवधी। दोहा, चौपाई और बरवै के लिए तो अवधी का कोई स्थानापन्न भी नही है। तुलसी का रामचरितमानस अवधी में ही लिखा गया, जायसी का पद्मावत भी इसी में है। व्याकरण की दृष्टि से यह पश्चिमी हिंदी से भिन्न है। साहित्यिक और बोली के उच्चारणो में अंतर लक्षित होता है—'तेहि' ∾ 'त्याह', 'मोहि' ∾ 'म्वहि', 'एक देस'

'याक दयास'। भूतकाल अन्य पुरुष का क्रियारूप एक वचन में 'इस' या 'ऐ' में तथा बहुवचन 'इन' या 'ऐं' में अन्त होता है। (एक व० देखिसि, देखे—बहु व० देखिनि। कर्ताकारक का चिह्न 'ने' इस बोली में नहीं मिलता। सर्वनामों में संबंधकारक के रूप 'मोर', 'तोर', 'ओकर', 'तेकर', 'केकर' आदि मिलते हैं अंत प्रायः 'र' में होता है। इसी प्रकार बहुवचन में 'हमार' 'तुमार', 'तोहार', 'इनकर', 'ओनकर', 'जेनकर', 'तेनकर', 'केनकर' आदि रूप मिलते हैं। 'होना' क्रिया के वर्तमान काल के रूप 'बाटै', 'बाटई', 'बांटे', 'बांटीं', 'आ' 'अहै' 'अहई' 'अहीं' 'अहई' आदि मिलते हैं। भूतकाल में 'इस', 'इन' में अन्त होते हैं—'रहिस', 'देखिस', 'रहिन', 'देखिन' आदि मिलते हैं। ऐसी क्रियाएं भी मिलती हैं—'दयान' (दया की), 'रिसान' (रिस या क्रोध किया) भविष्यकाल के प्रथम, द्वितीय पुरुष में 'ब' (देखब, करब)। फैजाबाद में बोले जाने वाली अवधी का नमूना नीचे दिया जा रहा है—

एक मनई-के दुइ बैटवे रहिन। ओह-माँ-से लहुरा अपने बाप-से कहिस दादा धन-माँ जवन हमारा बखरा लागत-होय तवन हम-का दैन्द अउर वै आपन धन उन-का बाँट-दिहिन। आउर ढेर दिन नाँही बीता की लहुरा बेटवा सब धन बटोर-के परदेस चला-गय अउर उहाँ आपन धन कुचाल-माँ लुटाय पड़ाय दिहिस। अउर जब सम्मै गँवाय डारिस ओह देस-माँ बड़ा काल पड़-गा। वै बनाय दलिद्र होय-गा। तब वै ओ-ई देस-के एक भल-मनई के पाछे लाग गै। तब वै ओ-का अपने खेतन माँ सूअर चरावै-का पठै-दिहिस।

लखनऊ के गांव में यही बात इस प्रकार सुनी जाएगी—

याक जने-के दुइ बेटवा रहैं। तो, छोटका बेटवा बाप-से-कहिस की 'मोर हीसा बांटि दें'। तब बाप ओहि-का हीसा बांटि दिहिस। किछु दिन पाछे ऊ सब रुपया लैंकै बड़ी दूर-के मुलुक-माँ निसर-गा। और हुआँ आपन रुपया सब कुचाल-माँ उड़ाय-दिहिस। ते पाछे ओहि-के तीरे कुछू नाहीं रहा, और हुंआ बड़ा झोरा पड़ै लाग और ऊ बनाय तबाह होइ लाग। तब याक भल मनई-के तीरे गा और ऊ आपन खेतन-माँ सूअरि चरावै-का नोकर राखिस।

दोनों में अधिक भेद नहीं है। भूतकाल की क्रिया के रूप, सर्वनाम के रूप और कारक चिह्नों के रूप द्रष्टव्य हैं—

७/४/२ जैसे बुंदेलों की भाषा बुंदेली इसी प्रकार बघेलों की भाषा बघेली। इसी को बघेलखंडी भी कहते हैं और चूंकि इसे रीवां में प्रश्रय मिला अतः इसे रिवाई भी कहा जाता है। फतेहपुर, बांदा, हमीरपुर में तो यह

बु देली मे विलीन होती प्रतीत होती है। रीवाँ मे इसका अच्छा रूप पाया जाता हे। यद्यपि रीवाँ के महाराजे साहित्य के प्रति उदारता के लिए प्रसिद्ध रहे परन्तु बघेलखण्ड मे कोई बडा साहित्यकार नही हुआ। तानसेन इसी क्षेत्र का था। महाराज विश्वनाथसिंह तो स्वयं साहित्यकार थे, उन्होने 'सिंह बघेला' उपनाम से लिखा। इनका 'आनन्द रघुनंदन' प्रसिद्ध ही है।

व्यावहारिक दृष्टि से बघेली तथा अवधी एक ही हे। व्याकरण मे भी कुछ विशेष अंतर नही है। ग्रियर्सन ने दो अंतर बताए हे—(१) क्रियाओं के भूतकाल मे परसर्गीय 'त' अथवा 'तै' जोडना बघेली मे देखा जाता है, (२) बघेली ने 'व' को, जो अवधी के भविष्यत् काल के प्रथम एव द्वितीय पुरुष का विशिष्ट तत्त्व है (देखव, करव, चलव, आइव) छोड दिया हे, और इसके स्थान पर 'ह' ले लिया है। (अवधी देखवौ ~ बघेली देखिहौ) 'मैं', 'तू' के लिए 'मयँ', 'तयँ' सुने जाते है, और 'जा' तथा 'सो' के लिए 'जऊन', 'तऊन'। संबंधकारक मे 'म्वार', 'त्वार', 'यहिकर', 'वहिकर', 'ज्यहिकरि', 'क्यहि करि' आदि का प्रयोग होता है। 'हुआ' के लिए 'भयो', 'भयेस', 'भ' आदि देखे जाते है। 'होव', 'जाव', 'देव', 'लेव' भी यदा-कदा सुने जाते है।

बाँदा की बघेली का नमूना :

कौनौ मडई-के दुइ लरिका रहै। उइँ लरिका बाप-से कहिन कि अरे बाप तै हमरे हीसा कै जजाति हम-का बाँट दे। तबै बाप आपन जजाति दोनहुँन लरिकन-का बाँट दिहिस। औ थोरे दिनन-माँ चुनकउना बेटौना सब ज्यारा बाँट्टुर-कै लिहिस औ बहुत दूरी परद्यास-का निकरिगा और हुआँ आपन सब रुपया कुकरम-माँ खरच-कै डाइस। औ सब रुपया वहि-का खरच होइगा औ वा मुलुक-माँ बहुत बड़ा दुर-दिन पडा औ वहि-का रोजीना-के खरिच-कै तंगई होय लाग। तबै वा मुलुक-के एक रहय्या-से जाय-कै मिला जौन वहि-का अपने ख्यातन-माँ सुअरिन चरावै का पठवाय दिहिस।

७/४/३ छत्तीसगढी, लरिया, खल्टाही आदि नामो से सूचित यह बोली रायपुर तथा विलासपुर मे प्रधानत. सुनी जाती है। छत्तीसगढ की भाषा होने से यह छत्तीसगढी कहलाई। बालाघाट जिले के 'खलोटी' नाम से 'खल्टाही' तथा 'लरिया प्रदेश' के कारण 'लरिया' कहलाई। छत्तीसगढी में भी कोई विशिष्ट साहित्य नही है। इसके दो व्याकरणिक रूप विचित्र मालुम होते है। सम्प्रदान-कर्म का चिह्न 'ला' तथा अपादान का 'ले', और बहुवचन का प्रत्यय 'मन'। (मनुख मन = बहुत से आदमी, लइका-मन-के = लडकों-का) 'ला' 'लिए' का स्थानापन्न प्रतीत होता है। सर्वनाम मे 'मैं', 'तू' का संबंधकारक मे 'मोर' 'तोर' होते है। बहुवचन कर्त्ता में 'हम-मन', 'तुम-मन' देखे जाते है। 'सो' 'जो' के रूप

का समाधान हो। बोलियां तो प्रत्येक भाषा की होती हैं—हिंदी की भी अनेक बोलियां हैं, पर खड़ीबोली को स्वीकार कर एकरूपता का प्रश्न हल हुआ है। इतना ही क्यों भारत में तो अनेक भाषाएं भी हैं, परन्तु हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया है। यदि हम एक ऐसी भाषा बनाते जिससे सभी भाषा-भाषी संतुष्ट होते तो यह नई भाषा प्रथम तो बनती नहीं और यदि कहीं बन जाती तो उसका क्या स्वरूप होता, क्या क्षमता होती और क्या परंपरा—इसे सभी विचारशील व्यक्ति सोच सकते हैं। इसी प्रकार जब एकरूपता की बात कही जाती है तो उसका केवल यही अभिप्राय है कि किसी प्रचलित समृद्ध बोली को स्वीकार किया जाए और सारे प्रान्त में उसका प्रचलन हो। यहाँ भी वही सिद्धान्त मानना पड़ेगा कि कौनसी बोली बोलने वालों का प्रतिशत अधिक है और इस दृष्टि से मारवाड़ी का नाम ही विचारार्थ उपस्थित होता है। मारवाड़ी और ब्रजभाषा का जो प्रश्न उपस्थित हो जाएगा उसे दो-भाषा के सिद्धान्त द्वारा सुलझाया जा सकता है, परन्तु जब तक यह नहीं होता हिंदी के द्वारा कार्य चल ही रहा है, और हो सकता है राजकीय भाषा के पद पर यही स्थित रहे और राजस्थानी साहित्य-सर्जन के माध्यम से आगे बढ़े।

राजस्थानी बोलियों के कुछ अवतरण नीचे दिए जाते हैं—

मारवाड़ी :

एक जिणे-रै दोइ डावड़ा हा। उवां मांय सूं नैनकि आइ आप-रै बाप-नै कयौ—बाबांसा मारी पांती-रौ माल आवै जिको मनै दिरावौ। जरै उण आप-री धर-बिकरी उणा-नै बांट दिवी।

ढूँढाड़ी :

एक जणा-कै दो बेटा छा वा मैं सूं छोटक्यो आप-का बाप-नै कई—दादाजी धन मैं सूं जो बांटो म्हारै बांटै आवै सो मूंनै द्यो। वो आपको धन वानै बांट दीन्यू।

मेवाती :

कही आदमी-कै दो बेटा हा उन मैं तैं छोटा-नै अपना बाप-तैं कही—बाबा धन मैं तैं मेरा बटको आवै सो मोनै बांट दै बेह नै अपणू धन उन-नैं बांट दियो।

मालवी :

कोई आदमी कै दो छोरा था उन-मैं-सैं छोटा छोरा-नै ऑं-का बाप सैं कियो कि दाय जी म्हा कै म्हारो धन-को हिस्सो दै-नाख और ऑंनै उन-मैं अपना मालताल को बांटो कर दियो।

कुछ ऐसी ही स्थिति बिहारी की है। बिहारी की दो बोलियाँ—मैथिली और भोजपुरी तो बहुत ही समृद्ध बताई जाती हैं। मैथिली और मगही में काफी समानता है और कुछ लोग तो यही उचित समझते हैं कि मगही को मैथिली की एक बोली माना जाए। मैथिली ने अपनी साहित्यिक परम्परा का निर्वाह आज तक किया है और कई विश्वविद्यालयों में इसे मान्यता भी प्राप्त है। विद्यापति का नाम कौन नहीं जानता—मैथिल-कोकिल यही महाभाग हैं। आज भी मैथिली में उपन्यास, निबंध, कहानियां, कविता आदि लिखे जाते हैं और कई मासिक पत्र भी हैं। जयकान्त मिश्र का 'मैथिली-साहित्य का इतिहास' पठनीय है। भोजपुरी के बोलने वाले पंजाबी जैसे ही उत्साही होते हैं, उन्हें अपनी बोली का गर्व है, यद्यपि साहित्य की दृष्टि से यह गतिशीलता उतनी वेगवती प्रतीत नहीं होती। भोजपुरी भाषा का अध्ययन अनेक विद्वानों ने किया है यथा—सिद्धेश्वर वर्मा, उदयनारायण तिवारी, विश्वनाथप्रसाद। राहुल सांकृत्यायन ने तो कई नाटक भी भोजपुरी में लिखे। पर साहित्यिक क्षेत्र में भोजपुरी की गतिविधि मान्यता प्राप्त करने में असमर्थ रही है, इस क्षेत्र में तो मैथिली का कार्य काफी अच्छा हुआ और हो रहा है। राष्ट्रभाषाओं में शामिल करने के लिए मैथिली का पक्ष-प्रतिपादन भी होता रहा है, पर कई और सवाल खड़े हो जाते हैं—जैसे ब्रजभाषा और अवध का साहित्य भी बहुत समृद्ध हैं, इनके बोलने वालों की संख्या भी बहुत काफी है। और धीरे धीरे हिंदी अपना विस्तार ही कर रही है, ऐसी स्थिति में साहित्य-प्रधान भाषाएं भी राष्ट्र भाषा के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं कर पाती हैं। इसमें तो संदेह नहीं कि जो त्याग राजस्थान और बिहार के निवासियों ने हिंदी के पक्ष में किया है उससे हिंदी का पक्ष बहुत प्रबल हुआ है। इन प्रान्तों को शामिल कर लेने से हिंदी-बोलने वालों की संख्या बहुत काफी हो गई है और हिंदी को बल मिला है। हिंदी और इन भाषाओं का प्रश्न काफी जटिल है, पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि यदि प्रान्तीय भाषाओं की दृष्टि से इन्हें राष्ट्र भाषाओं मे स्थान नहीं मिलता तब भी इनकी साहित्यिक क्षमता गौरव का विषय है और एक ऐसे वातावरण का निर्माण होना चाहिए जिससे इन भाषाओं की साहित्यिक-परंपरा बराबर बनी रहे और इनकी साहित्यिक क्षमता कुंठित न हो। राजकीय आश्रय आवश्यक प्रतीत होता है। बिहारी की तीनों बोलियों के रूप इस प्रकार हैं—

मैथिली :

कौनों मनुस्य-कैं दुइ बेटा रहैन्ह। ओहिसां छोटका बाप सँ कहल-कैन्ही जे अउ बाबा धन सम्पत्ति-मैं सँ जे हमार हिस्सा होय सें हमरा दियह तखन ओ हुन का अपन सम्पत्ति बांटी देल-थीन्ही।

मगही :

ऐक आदमी-कै दुगो बेटा हलथीन उन कन्ही मै से छोटका अपन बाप-सैं कहल-अक कैं ऐ बाबू-जी तौ-हर चीज-वत्स मै सैं जै हमार बखरा हौहै सैं हमरा दैदउ तब ऊ अपन सब चीज वत्सु उनकन्ही दूनौ मै बाँट देल-अक ।

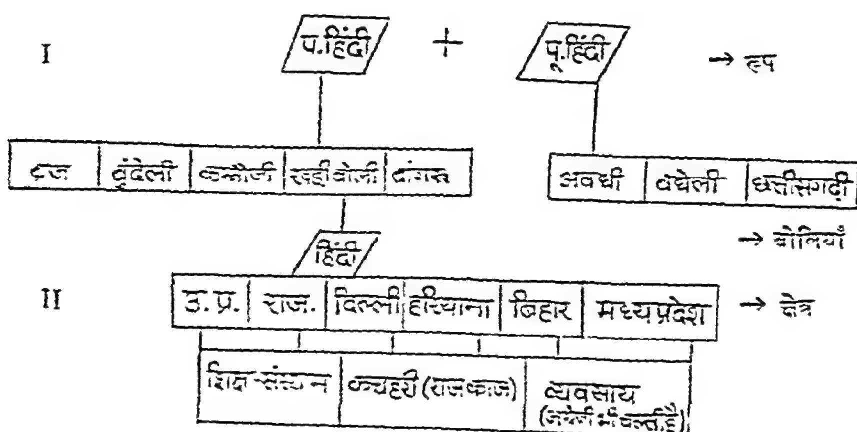
भोजपुरी :

ऐक आदमी का दू बेटा रहै छोटका अपना बाप सै कहल-अस की ऐ बाबूजी, धन-मै जै हमार हिस्सा हौ-खै सै बाँट दि तब ऊ आपन धन दूनौ कैं बाँट देल-अस ।

—:०:—

८/१ आपने भाषा के विकसित होने की कुछ बातें पढ़ी हैं। भाषा आगे बढ़ती हुई बदलती जाती है और अधिकाधिक शक्ति-संपन्न भी होती है। कुछ ऐसी भी भाषाएँ हो सकती हैं जिनका आगमन उनको विनाश के गर्त में ले जाता है—या यों कहिए कि प्रत्येक भाषा का अपना जीवन होता है जिसमें उसका विकास, उसकी शक्ति-संपन्नता देखे जा सकते हैं और समय आने पर उसे मृत् भाषा की संज्ञा मिल जाती है। कुछ लोगों ने भाषा-विकास को मानवी विकास से संबंधित किया है। हिन्दी के संबंध में भी आप सोचते होंगे कि जिस हिन्दी का आज आप प्रयोग करते हैं, आपके अध्यापक प्रयोग करते हैं या मैं प्रयोग कर रहा हूँ उसे अपना वर्तमान रूप किस प्रकार प्राप्त हुआ, कितने विविध रूपों में यह देखी जा सकती है, इसका भविष्य-स्वरूप किस प्रकार का होगा आदि आदि। आइए आपको हिन्दी-भाषा की कहानी सुनादें, एक प्रकार से यही हिन्दी-भाषा का विकास कहा जा सकता है। आपको किंचित सावधान तो रहना ही पड़ेगा, क्योंकि मैं आपको प्रस्तुत रूप से हिंदी 'भाषा' की कहानी सुनाऊँगा 'साहित्य' की नहीं, हाँ, प्रासंगिक रूप में साहित्य की ओर भी ध्यान जा सकता है।

८/२ आप देख चुके हैं—



अब देखना यह है कि II हिन्दी को यह क्षमता किस प्रकार प्राप्त हुई और उसका अतीत किस प्रकार का रहा है तथा भविष्य में उसकी उपलब्धियाँ क्या हो सकती हैं। एक प्रकार से हमें हिन्दी के भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों पर विचार करना है।

८/३ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मेरठ, बिजनौर आदि के आस पास की बोली 'खड़ीबोली' के रूप में चलती आ रही है। खड़ीबोली के माध्यम से साहित्य का भी सर्जन हुआ। खड़ीबोली का प्रचलन अनेक शताब्दियों पुराना है।

८/४ जब हम हिंदी भाषा को उसके विकास की दृष्टि से देखते हैं तो उसे तीन कालों में बांटा जा सकता है:—

(१) प्रारंभिक काल से १५०० ई० तक

(२) मध्यकाल १८०० ई० तक

(३) आधुनिक काल १८०० ई० के उपरान्त

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि १००० ई० के बाद अपभ्रंश भाषाओं से आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का स्वरूप-निर्माण प्रारंभ हुआ। एक प्रकार से इन भाषाओं को विकसित होते हुए अब एक हजार वर्ष होने जा रहे हैं।

८/४/१ विकास की दृष्टि से पहला काल १५०० ई० तक चलता है। इस काल के अन्तर्गत पुरानी खड़ीबोली में लिखा हुआ साहित्य है। इस बोली का स्वरूप देने की तो आवश्यकता प्रतीत नहीं होती परन्तु साहित्यिक गतिविधि का किंचित ज्ञान आवश्यक है। इस काल के प्राप्त ग्रन्थों में बीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो, कबीर आदि की कृतियाँ तथा खुसरो का फुटकर काव्य सुना जाता है। इन कृतियों के जो रूप आज उपलब्ध हैं उनमें खड़ीबोली के रूप भी पाए जाते हैं। वैसे तो 'रासो' काव्यों का समय बहुत संदिग्ध है और कबीर मौखिक परंपरा का आधुनिक रूप है, इसी प्रकार खसरो का आधार भी जनश्रुति है और नितांत आधुनिक काल की रचना मालुम होती है। देखिये—

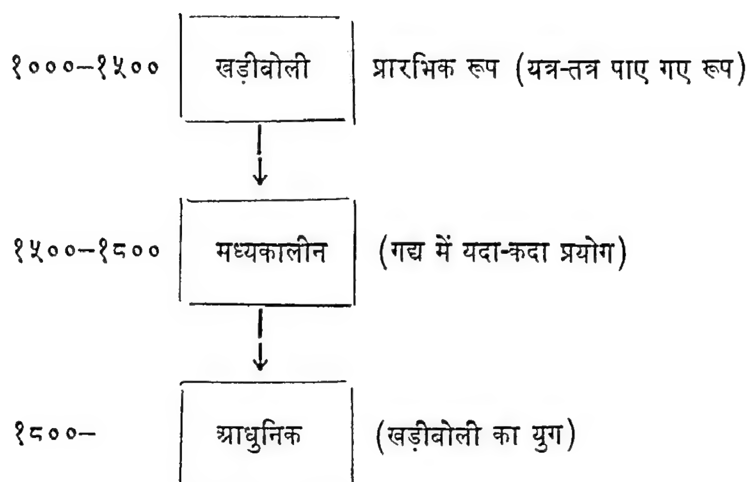
टट्टी तोड़ के घर में आया।
अरतन-बरतन सब सरकाया॥
खा गया पी गया दे गया बुत्ता।
कह सखि साजन ? ना, सखि ! कुत्ता॥

इसमें तथ्य इतना ही है कि हिन्दी में जो कृतियां प्राचीन मानी जाती हैं उनमें खड़ी बोली के उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

८/४/२ मध्यकाल में खड़ी बोली के रूप यत्र-तत्र पाए जाते हैं। इसमें साहित्यिक रचना नहीं की जाती थी, क्योंकि लोग इसे मुसलमानों से संबंधित मानते थे,

फिर भी एक जीवित भाषा होने के कारण इसके रूप अवश्य देखे जा सकते हैं। वैसे दक्षिण में हिंदवी अथवा खड़ीबोली का साहित्यिक प्रयोग चौदहवीं शताब्दी से प्रारंभ हो गया था, किन्तु उत्तर भारत में अठारहवीं शताब्दी से पहले इसका प्रचलन नहीं हो सका। १८वीं और १९वीं सदी में खड़ीबोली के उर्दू रूप का परिमार्जित स्वरूप दिखाई देता है। खड़ीबोली को विकसित होने का अवसर नहीं मिला, क्योंकि काव्य की भाषा इस युग में दो ही थीं—व्रजभाषा और अवधी। गद्य का प्रचलन कुछ विशेष था ही नहीं, अतः खड़ी बोली की रचनाएँ दिखाई नहीं देतीं। एक प्रकार से यह कहना चाहिए कि प्राचीन और मध्य युग में खड़ीबोली के जो रूप विविध रचनाओं में जहां-तहां मिल जाते हैं वे प्रासंगिक हैं, रचना का स्वरूप खड़ीबोली का नहीं है। कहीं कहीं मुसलमानों की बातें 'खड़ीबोली' के माध्यम से बताई जाती हैं। ये दोनों युग ही खड़ीबोली के नहीं थे—यह बोली तो अपने क्षेत्र में ग्रामीण व्यक्तियों द्वारा बोली जाती रही होगी।

८/४/३ किन्तु १८०० ई० के पश्चात् भाषाओं के विस्तार में एक बड़ी घटना हुई और यह थी 'खड़ीबोली' का विकसित होना। १८५० ई० तक पूरा उत्तरप्रदेश अंग्रेजों के अधिकार में आगया था, उधर बंगाल में उनका आधिपत्य था ही। अंग्रेजों ने अपने कार्य के लिए खड़ीबोली को पकड़ा और इसका प्रयोग गद्य में कराया जाने लगा। तब भी यह किसी की हिम्मत नहीं होती थी कि पद्य में खड़ीबोली का प्रयोग किया जाए। यह स्थिति तो १९वीं शताब्दी में काफी आगे चल कर उत्पन्न हुई। और आज तो यह स्थिति है कि खड़ीबोली के अतिरिक्त कविता में अन्य किसी बोली का प्रयोग हास्य-व्यंग्य के रूप में ही किया जाता है, शिष्ट भाषा तो खड़ीबोली ही है, चाहे गद्य में हो या पद्य में। खड़ी-बोली के प्रसंग में फोर्ट विलियम कालिज का नाम नहीं भुलाया जा सकता। वहाँ रह कर लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' नामक खड़ीबोली के ग्रन्थों की रचना की। इसी समय इंशाअल्लाखां और मुंशी सदासुखलाल की रचनाएं, 'रानी केतकी की कहानी' और 'सुखसागर' खड़ी-बोली में लिखे गए। राजा लक्ष्मणसिंह और शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' ने अपने अलग प्रयोग किए और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने एक मध्यम मार्ग निकाला। इस प्रसंग में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके द्वारा चलाए गए आर्य-समाज का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उनके द्वारा खड़ीबोली के प्रसार और प्रचार में बहुत सहायता मिली। गत डेढ़ सौ-सी वर्षों से खड़ी बोली का साहित्यिक रूप अपने ढंग से विकसित होता रहा है और कभी-कभी इसकी मेरठ-बिजनौर क्षेत्र की बोली के अन्तर का आभास भी होने लगता है, फिर भी अधिक भिन्नता नहीं आई है, वैसे साहित्यिक और बोलचाल के रूपों में अन्तर तो हो ही जाता है।



८/५ खडीबोली के विविध रूपों के उदाहरण अन्यत्र दिए जा चुके है। इसमें संदेह नही कि इसका प्रयोग विविध वर्गो, स्थानों, परिस्थितियों के अनुसार अनेक प्रकार से किया जाता है।

८/५/१ (१) खड़ीबोली के ग्रामीण क्षेत्र के लोग आज तक इस बोली का प्रयोग अपने ढंग से करते है और उसे खड़ीबोली का ग्रामीण रूप कहा जा सकता है।

८/५/२ (२) हिंदी के साहित्यकारों द्वारा हिंदी का जो रूप प्रयुक्त होता है उसमे संस्कृत के शब्द, समस्तपद, बड़े वाक्य, गुंफन आदि पाए जाते है। एक युग था जब प्रयाग और लखनऊ के हिन्दी साहित्यकारों द्वारा प्रयुक्त गद्य की भी तुलना की जाती थी। वह समय चला गया है और अब प्रयाग, लखनऊ, दिल्ली आदि स्थानो मे साहित्यकारों की भाषा मे बहुत कुछ समानता आती जा रही है। साहित्यिक भाषा का क्षेत्र बहुत बढ गया है। आज तो देश के प्रत्येक भाग मे हिंदी-साहित्य का निर्माण हो रहा है, चाहे वह मद्रास हो या कलकत्ता, श्रीनगर हो या त्रिवेन्द्रम सर्वत्र हिंदी की रचनाएँ प्रस्तुत की जा रही है। यदि इसे सीमित किया जाय तो इधर राजस्थान, उधर बिहार, उत्तर मे पंजाब और दक्षिण मे म.प्र. इसकी सीमाएँ बताई जा सकती है और कहा जा सकता है कि प्रमुख रूप में यहां हिंदी की ही रचनाएँ प्रस्तुत की जाती है, परन्तु यदि वास्तविकता को देखा जाए तो देश के प्रायः सभी प्रान्तो मे हिंदी का साहित्य प्रस्तुत किया जा रहा है और काफी मात्रा में। कुछ साहित्य तो वास्तव में उच्च कोटि का होता है।

८/५/३ (३) खड़ीबोली का एक साहित्यिक रूप उर्दू भी है, इसका व्यवहार पाकिस्तान, उत्तर भारत के मुसलमानों, पुराने कायस्थों आदि में पाया

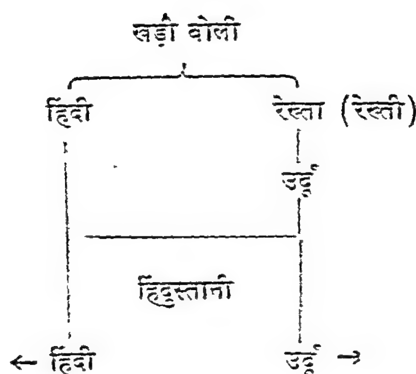
जाता है। पहले तो हिन्दी से अधिक उर्दू जानने वालों की संख्या होती थी, पर अब स्थिति बदली है, उर्दू जानने वालों की संख्या घट चली है, परन्तु कुछ लोग वास्तव में उत्तम उर्दू साहित्य का निर्माण कर रहे हैं और सभी क्षेत्रों में योगदान पाया जा रहा है। साहित्यिक उर्दू में अरबी-फारसी के शब्दों का आधिक्य होता है और अब वाक्य-विन्यास में भी कुछ अंतर हो चला है। पाकिस्तान-रेडियो और रचनाओं के देखने से तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे इस बात का प्रयत्न किया जा रहा हो कि दोनों भाषाएँ एक दूसरे से नितांत अलग हो जाय। वैसे यह एक मान्य सिद्धान्त है कि हिंदी-उर्दू दोनों ही खड़ी बोली के विशेष रूप हैं। हिंदी साड़ी पहन कर हिन्दुओं के घर में रही और उर्दू विदेशी वेश-भूषा के कारण कुछ अलग सी दिखाई देने लगी। जब मैं जापान में था तो हिंदी-उर्दू के एक जापानी विद्वान ने प्रश्न किया था कि जब हम हिंदी-उर्दू दोनों को ही एक मानते हैं तो हिंदी-साहित्य के इतिहास में उर्दू की रचनाओं का बहिष्कार क्यों कर देते हैं। कुछ इसी प्रकार का प्रश्न एक राजस्थानी ने भी पूछा था कि जब राजस्थानी को हिंदी की बोली मानते हैं तो राजस्थानी-साहित्य को हिंदी-साहित्य के इतिहास में स्थान क्यों नहीं देते। यह बात विचारणीय अवश्य है। परन्तु आजकल जो स्थिति है वह इस प्रकार है कि यद्यपि हिंदी-उर्दू दोनों ही एक ही बोली के रूप हैं परन्तु साहित्यिक दृष्टि से दोनों अलग हैं।

८/५/४ (४) दक्खिनी—दक्खिनी मुसलमानों की भाषा है। इसमें अपेक्षाकृत फारसी के शब्द कम प्रयुक्त होते हैं और यह इतनी परिमार्जित नहीं हो सकी है जितनी उत्तर भारत की उर्दू। इसे दकिनी, दक्नी आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। काफी पहले १३वीं १४वीं शताब्दी में मुसलमान शासकों की दक्षिण-विजय के बाद यह भाषा उनके साथ ही वहां गई। यह फारसी की अपेक्षा जनता के अधिक निकट थी। आगे चलकर इसमें रचनाएँ भी की गईं। निश्चय ही यह हिंदी के विस्तृत क्षेत्र में आती है और जनता के अधिक निकट रही है।

८/५/५ (५) कभी-कभी रेख्ता और रेख्ती नाम भी सुने जाते हैं। फारसी शब्दों के अधिक मिश्रण के कारण कविता में प्रयुक्त उर्दू को रेख्ता अर्थात् 'मिश्रित' कहते हैं। स्त्रियों की भाषा रेख्ती कहलाती है। कुछ लोग रेख्ता को उर्दू का प्रारम्भिक रूप मानते हैं। साहित्यिक भाषा के रूप में रेख्ता का अस्तित्व साहित्यिक भाषा के रूप में बहुत पहले से सिद्ध होता है। यह सत्रहवीं शताब्दी की देन है जब हिंदी में फारसी शब्दों का मिश्रण कर एक नवीन भाषा को अस्तित्व में लाने का प्रयास किया गया। सच बात तो यह है कि भाषा के अनेक रूप होते हैं और इस अनेकरूपता के अनेक कारण होते हैं। हिंदी को विभिन्न

प्रकार से ढाल कर अनेक नाम देने का प्रयास किया गया, और यह सब शब्दों के आधार पर हुआ, व्याकरण की दृष्टि से बहुत-कुछ अंशों में एकरूपता पाई जाएगी। संस्कृत तथा फारसी के उपसर्ग-प्रत्यय आदि कुछ विभेद करते अवश्य प्रतीत होते हैं। पर इसमें संदेह नहीं कि इन अनेक रूपों के कारण हिंदी का क्षेत्र बहुत व्यापक बन गया ।

८/५/६ (६) हिंदी तथा उर्दू के साथ एक नाम और चलता है—'हिन्दुस्तानी'। यह नाम बहुत व्यापक है। एक समय था जब हिन्दुस्तानी का अर्थ उर्दू होता था। फिर देखा गया कि जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्द अधिक हों वह हिंदी, तुर्की-फारसी-अरबी के अधिक हों तो उर्दू, इन सबको साथ लेकर अंग्रेजी के शब्द भी हों तो हिंदुस्तानी। यह बोल-चाल की भाषा समझिए और इसमें सब प्रकार के शब्द देखे जा सकते हैं। हिंदुस्तानी साहित्य के उपयुक्त नहीं समझी गई। विद्वानों ने लिखा—हिंदुस्तानी को साहित्य के आसन पर विराजने की चेष्टा करना हिंदी और उर्दू दोनों के लिए अनिष्टकारक है। इसके प्रचार से हिंदी-उर्दू दोनों की परम्परा नष्ट हो जायगी और दोनों अपभ्रष्ट होकर ऐसी स्थिति उत्पन्न करेंगी कि भारतीय भाषाओं के इतिहास की परम्परा में उथल-पुथल मचा देंगी। वैसे यह चेष्टा भी अवश्य हुई कि इस प्रकार की बोली में भी साहित्य लिखा जाए। आजकल यह नाम अधिक प्रचलित नहीं है कभी-कभी यह जरूर सुना जाता है—'हिंदी में नहीं हिंदुस्तानी में', जिसका सामान्य अर्थ यही होता है कि आसान हिंदी मे कहता जाए। प्रचलित नाम दो ही हैं 'हिंदी' और उर्दू। दोनों के अपने-अपने क्षेत्र हैं, अपनी-अपनी साहित्यिक परम्पराएँ बन चुकी हैं—दोनों ही संविधान-स्वीकृत भाषाएँ है—पर हिंदी का दर्जा उर्दू की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। हिंदी का संबंध संपूर्ण भारत राष्ट्र से है। उर्दू के द्वारा हिंदी का प्रचार हुआ इस बात में काफी तथ्य है। मुसलमान प्रायः उर्दू का प्रयोग करते हैं, उर्दू के प्रयोग से हिंदी का प्रचार स्वतः होता है क्योंकि व्याकरणिक रूप प्रायः एक से ही हैं। हिंदुस्तानी का 'उर्दू' के अर्थ में प्रयोग तो बिल्कुल समाप्त हो गया है। आज यदि कोई 'हिंदुस्तानी' का नाम लेता भी है तो उसका अर्थ 'सरल हिंदी' ही लिया जाता है—साहित्य-रचना की बात समाप्त हो चुकी है। हिंदुस्तानी बोली का अब तो ऐतिहासिक महत्त्व ही मालुम होता है। एक समय ऐसा भी आया था जब हिंदुस्तानी एक भाषा थी और इसके दो रूप थे, दो लिपियाँ थीं कहीं-कहीं यह भी प्रयोग हुआ कि हिंदी-उर्दू दोनों को मिलाकर एक भाषा हिंदुस्तानी हो और उसे दो लिपियों में लिखा जाय। कुछ प्रकाशन भी हुए, पाठ्य पुस्तकें भी प्रस्तुत हुईं किन्तु आगे नहीं चल सका और 'हिंदी', 'उर्दू' दोनों भेद जैसे के तैसे रहे। आजकल दोनों में दूरी बढ़ती जा रही है और यह एक विचारणीय प्रश्न है कि यह प्रवृति कहां तक उपयोगी है।



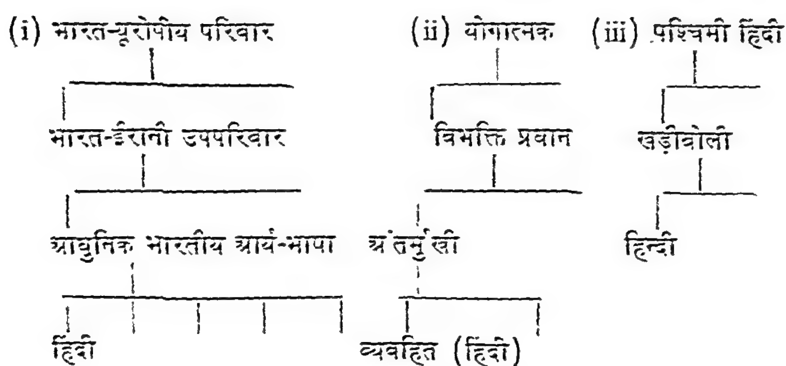
/५/७ इस विवरण के उपरान्त हिंदी की परिभाषा देना भी उचित प्रतीत होता है—

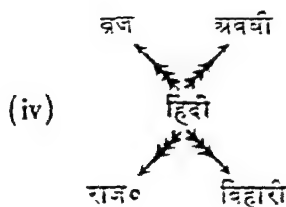
(i) संसार के भाषा-समूहों में भारत-यूरोपीय परिवार के भारत-ईरानी उप-परिवार में भारतीय-आर्य भाषा वर्ग की आधुनिक भाषाओं में एक भाषा है।

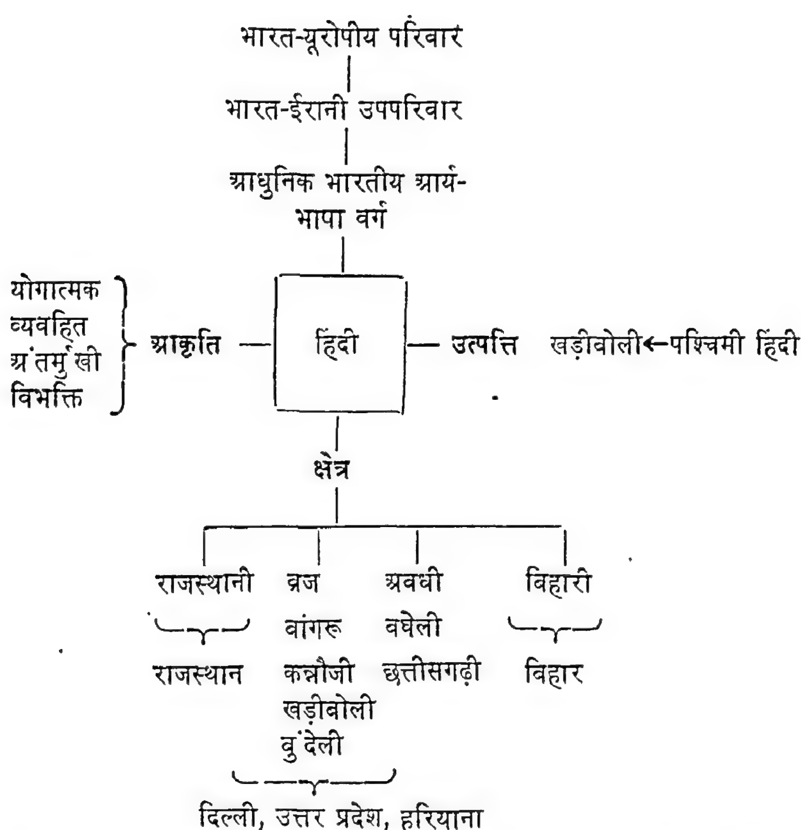
(ii) योगात्मक वर्ग में विभक्ति-प्रधान भाषाओं के अंतर्गत बहिर्मुखी तथा व्यवहित विभक्तियाँ वाली एक भाषा है।

(iii) पश्चिमी हिंदी के खड़ीबोली रूप का विस्तृत एवं विकसित रूप है।

(iv) ब्रजभाषा, अवधी, बिहारी, राजस्थानी आदि भाषा-प्रदेशों की संविधान स्वीकृत राष्ट्र-भाषा है।







८/५/८ हिंदी-उर्दू के अतिरिक्त हिंदी के अनेक रूप देखे जा सकते है। वैसे तो शैली की दृष्टि से भाषा के इतने रूप हो सकते हैं जितने उस भाषा के बोलने वाले, परन्तु नीचे लिखे कुछ रूप अधिक विभिन्नता रखते है—

(१) आधुनिक कविता में प्रयुक्त भाषा—नई कविता, अकविता आदि को सम्मिलित करते हुए।

(२) साहित्यकारों की भाषा—आलोचनात्मक, शोध-प्रबंधों आदि में प्रयुक्त भाषा सहित।

(३) कथा-साहित्य की भाषा—पत्र-पत्रिकाओं तथा प्रकाशित कहानी और उपन्यासों की भाषा को भी इसके अन्तर्गत रखते हुए।

(४) सिनेमा की भाषा—रजतपट पर जो भाषा सुनी जाती है, अर्थात् जिसमें आजकल के सिने-कलाकार विचाराभिव्यक्ति करते हैं।

(५) बोल-चाल की भाषा—विभिन्न वर्गों की विभिन्न भाषाओं को भी इसी में शामिल करना चाहिए।

और अब दो प्रश्न—

(१) खड़ीबोली हिंदी का विकास बताइए।

(२) हिंदी की परिभाषा लिखिए और उसका स्वरूप बताइए।

—:०:—

९ हिंदी का शब्द-समुदाय

९/१ भाषा की न्यूनतम इकाई वाक्य होती है। वाक्य के बिना विचार-प्रकाशन की क्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती। हम कितने ही छोटे रूप में क्यों न बोलें, वाक्य ही बोलते हैं। वाक्यों का निर्माण एक या अधिक पदों से होता है। पदों को बनाने के लिए मूल शब्दों की आवश्यकता होती है—अर्थ-तत्त्व और संबंध-तत्त्व को मिलाकर पद बनाते हैं और उसका वाक्य में प्रयोग कर विचाराभिव्यक्ति की जाती है। पद के पाँच भेद माने गए हैं—(१) संज्ञा, (२) सर्वनाम, (३) विशेषण, (४) क्रिया और (५) अव्यय। अव्यय को कुछ लोग (१) क्रिया-विशेषण, (२) संबंध-वाचक, (३) समुच्चय-बोधक, तथा (४) विस्मयादि बोधक के रूप में देखते हैं। इन शब्दों के मूल रूप अपना इतिहास रखते हैं। कोई शब्द कहां से किस प्रकार आता है यह अपने में एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन है और बहुत ही रोचक अध्ययन है। 'पत्र' की बात पहले ही बताई जा चुकी है। एक बड़ी विचित्र बात यह है कि कौनसा शब्द कहां से आया और उसकी विभिन्न अवस्थाएं क्या रहीं—इस बात का पता लगाना कठिन है। यह तो एक मानी हुई बात है कि प्रत्येक भाषा विभिन्न स्रोतों से प्राप्त शब्दों की खिचड़ी होती है। आधुनिक युग में यह खिचड़ी और भी अधिक विविधतापूर्ण हो चली है। आवागमन के साधनों में विकास के साथ अनेक स्रोतों से शब्द आने की गति तीव्रतर हो जाती है। जहां तक हिंदी का प्रश्न है उसमें तो आवागमन का क्रम इतना अधिक रहा कि न जाने किन-किन स्थानों, वर्गों और भाषाओं के शब्द इनमें ग्रहण कर लिए गए हैं। यह क्रिया सर्वदा चलती रहती है। वैदिक काल से पहले की बात तो मालूम नहीं है पर इनके बाद कितने प्रकार के लोग भारत में आए, यह कथा इतिहास से जानी जा सकती है। आने वाला अपने साथ अपनी भाषा लाता है, शब्द लाता है। साथ ही वह जिस स्थान पर पहुँचता है वहां भी कोई न कोई भाषा अवश्य होती है, उसका शब्द-समुदाय होता है। भारत में शक, हूण, सिथियन, पठान, तुर्क, मुगल, अंग्रेज, फ्रेंच आदि लोग आए। वे अपने साथ अपनी भाषाएं लाए, शब्द-भंडार लाए और उनके बहुत से शब्द यहां के शब्द-भंडार में ले लिए गए और समय बीतने पर वे ऐसे घुलमिल गए कि उनका विदेशीपन बिल्कुल समाप्त हो गया। बटन, कमीज, कमरा, कोट, पेंसिल, जल्दी, किताब, बाल्टी, बोतल, फिर, लेकिन, रवाना आदि के बारे में हमारा यह ध्यान

शब्द अपने ढंग से उन भाषाओं में आए हैं और वहां से कुछ आवश्यक शब्दों को हिंदी में ले लिया गया है।

(१) (i) तत्सम—वस्तु, प्रकृति, शीघ्र, वेग
(ii) तद्भव—आज, कान, नाक, तेरह
(iii) अर्द्धतत्सम—कान्हा, लगन

(२) मध्ययुगीन—काँटा, ठट्ठा, (हँसी-ठट्ठा), फूटा, घोड़ा.

(३) आधुनिक—

(i) बंगला—संदेश, गमछा, उपन्यास, गल्प
(ii) गुजराती—गरबा, हड़ताल
(iii) मराठी—लागू, चालू
(iv) पंजाबी—मंगेतर

९/२/१ प्रत्येक कोटि के शब्दों के कुछ कारण रहे हैं। 'तत्सम' का अर्थ है 'उसी के समान' अर्थात संस्कृत के शब्दों का जैसा का तैसा रूप। इन शब्दों के प्रयुक्त करने से कहा जाता है कि पांडित्य प्रदर्शन की आकांक्षा निहित रहती है, इसीलिए जिसे साहित्यिक हिंदी कहा जाता है उसमें संस्कृत के विशुद्ध शब्द अधिक संख्या में पाये जाते हैं। तद्भव शब्द मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं से होकर हिंदी तक पहुँचे हैं, इसी कारण उनका रूप परिवर्तित हो गया है। इनमें से अधिकांश का संबंध संस्कृत शब्दों से जोड़ा जा सकता है। इनकी संख्या बहुत अधिक होती है। तद्भव का अर्थ होता है 'उससे उत्पन्न' और वैयाकरणों की परिभाषा के अनुसार ये शब्द संस्कृत से उत्पन्न माने जाते हैं। जो संस्कृत शब्द आधुनिक काल में विकृत हुए हैं, वे 'अर्द्धतत्सम' कहलाते हैं क्योंकि उनकी बीच की कड़ियां नहीं मिलतीं। 'मध्ययुगीन' वे शब्द हैं जो पाली, प्राकृत आदि में प्रयुक्त होते थे जो वहीं तक रह गए और अब उनका प्रयोग उसी रूप में यदा-कदा किया जाता है। 'आधुनिक' का अर्थ स्पष्ट है कि इनका प्रयोग आजकल किया जाता है किन्तु ये शब्द हिंदी में विकसित नहीं हुए, अन्य आधुनिक भाषाओं में हुए और वहां से आवश्यकतानुसार हिंदी में ले लिए गए।

९/३ भारत में भारतीय आर्य-भाषाओं के अतिरिक्त कुछ और भाषाएँ भी बोली जाती हैं जिन्हें अनार्य कहा जा सकता है। इसका अन्य शाब्दिक अर्थ न लेकर केवल इतना ही समझना चाहिए कि जो भाषाएँ भारतीय तो हैं किन्तु जिनका संबंध भारत की आर्य-भाषाओं से नहीं है। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका

है कि भारत में भारतीय आर्य-भापाओं के अतिरिक्त कई अन्य वर्गो की भाषाएँ भी वोली जाती है जैसे द्रविड़, आग्नेय। इन शब्दों की संख्या बहुत कम है। कुछ देखिए:—

द्रविड़ भाषाओ से — पिलल (पिल्ले से)
कोल—हँडिया, कोड़ी
तिव्वत—वर्मी—लुंगी

इन शब्दों को कुछ लोग 'देशी' भी कहते है क्योंकि ये इस देश के ही शब्द है और 'विदेशी' से इन शब्दों का पृथकत्व दिखाया जा सकता है। वैसे देशी शब्द तो आर्य-भापाओं के भी हुए, पर इसका प्रयोग भारतीय अनार्य-भापाओं के लिए होता है। मूर्द्धन्य वर्ण से युक्त अनेक शब्द द्रविड़ भाषाओं के माध्यम से आए हुए बताए जाते है। हिंदी (या हिन्दुस्तानी) में इन शब्दों का प्रयोग तो सिगापुर के भारतीयों में देखा जाता है जहां इन तीनों भापाओं के बोलने वाले लोग एक दूसरे से मिलते है।

६/४ भारतीय अनार्य-भाषाओ के कही अधिक शब्द विदेशी भापाओं के है। इन विदेशी भाषाओं के तीन वर्ग हो सकते है:—

(१) मुसलमानो के प्रभाव से —फारसी, अरबी, तुर्की आदि

(२) अंग्रेजों आदि यूरोपियनों के प्रभाव से—अंग्रेजी, फ्रेंच, पुर्तगाली आदि

(३) इनके अतिरिक्त अन्य विदेशियों के प्रभाव से—जापानी, चीनी मलय आदि।

भारतवर्ष मे १००० ई० के लगभग से ही इस्लाम धर्म को मानने वाले तुर्क आदि आते रहे। पहले गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैयद तथा लोदी वंशों के पठानो ने यहा शासन किया और इसके वाद मुगल आए। यह शासन भी काफी दिनो तक चला। अंग्रेजो का शासन तो अभी कुछ वर्षो पहले ही समाप्त हुआ है। अंग्रेजो के साथ योरुप के अन्य देशो के लोग भी आए थे परन्तु राज्य अंग्रेजो का ही जमा। अंग्रेजो के राज्य के साथ पुर्तगाली तथा फ्रासिसी छोटे उपनिवेश भी रहे परन्तु अव सव समाप्त हो गए है। इन सभी लोगो के यहा आने से कुछ शब्द भारतीय भापाओ मे अवश्य प्रचलित हो गए। हिंदी का प्रादुर्भाव भी लगभग उसी समय से माना जाता है जब विदेशी आक्रमण शुरु हुए। अतः हिंदी के प्रारभिक काल से ही विदेशी शब्द ग्रहण किए जाने लगे और चन्द, सूर, तुलसी आदि के काव्य मे भी विदेशी भापाओ के काफी शब्द मिलते है।

बहुत समय तक फारसी दरबारी भापा रही, अतः फारसी के माध्यम से अरबी, तुर्की आदि के शब्द भी प्रचुर मात्रा मे आगए।

६/४/१ मुसलमान शासक चाहे किसी भी वर्ग के क्यो न रहे हो, उनके दरबार की भापा फारसी ही रही। काफी समय तक और किसी सीमा तक अब भी हिंदुओं मे भी फारसी भाषा के अच्छे ज्ञाता हुए। अरबी, तुर्की आदि के जो भी शब्द आए वे फारसी के माध्यम से ही आए। कुछ उदाहरण दिए जा रहे है।

फारसी—चादर, पैजामा, जुरमाना, गोश्त, सौदागर, हमेशा
अरबी—अदालत, कमाल, तहसील, हाकिम
तुर्की—गलीचा, चकमक, बीबी, लाश, सौगात
पश्तो—तपास (खोज) रोहिला (रोह-पहाड़ से)

चटर्जी ने इन शब्दो को कई कोटियों मे रखा है परन्तु यह बात मानली गई है कि इन सभी भाषाओ के शब्द फारसी के माध्यम से ही भारतीय भाषाओं मे आए है। कुछ कोटियाँ—

(१) राजकाज, शिकार, युद्ध आदि के शब्द—अमीर, शिकार, तलवार
(२) कानून के शब्द—अदालत, इजलास, जुरमाना
(३) धर्म-संबंधी शब्द—पीर, औलिया, मजहब, परहेज
(४) सस्कृति, कला आदि से संबधित—तहजीब, महल, शौक, शायर, जाहिल
(५) व्यापार—सौदागर, सूद, खरीद, दुकान, तिजारत
(६) सामान्य जीवन-संबंधी—हफ्ता, किस्सा, मतलब, अफसोस

६/४/२ भारत में यूरोपियनों का आना लगभग १५०० ई० से प्रारंभ हुआ, परन्तु भाषिकी संपर्क काफी पीछे हुआ। पहले जो यूरोपियन आते थे वे फारसी सीख कर राजदरबार में अपना काम चलाते थे। कुछ शब्द अवश्य प्रचलित होगए हो परन्तु यूरोपियन भाषा अंग्रेजी का प्रचलन तो अभी से शुरू हुआ जब भारत मे अंग्रेजी राज्य स्थापित होना शुरू हुआ। अंग्रेजों के साथ और देशो के लोग भी आए परन्तु उनकी भाषाओं के इतने शब्द नही चल सके जितने अंग्रेजी भापा के। धीरेन्द्र वर्मा ने अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों की अकारादि क्रम से एक सूची दी है। यहा अंग्रेजी आदि भाषाओ के कुछ प्रचलित शब्द दिए जा रहे है—

अंग्रेजी—स्कूल, कोट, चॉक, जेल, टीन, निब, मशीन, राशन, वाइल
पुर्तगाली—अचार, अलमारी, गोभी, चाबी, बाल्टी, बोतल, संतरा

फ्रांसिसी—कूपन, कारतूस, अंग्रेज
डच— तुरुप, बम

और भी यूरोपियन भाषाओं के शब्द आए होंगे परन्तु चूंकि वे अंग्रेजी के माध्यम से आए हैं अतः अंग्रेजी के ही शब्द गिने जाते हैं।

९/४/३ इन शब्दों के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के शब्द भी आ ही गए हैं। इसका कारण पारस्परिक विचार-विनिमय तथा व्यापारिक आदान-प्रदान है। इन दिनों तो आदान-प्रदान बहुत ही बढ़ रहा है और अधिकाधिक शब्द आ सकते हैं। साथ ही एक विचारधारा यह भी है कि यथासंभव संस्कृत के शब्द-भंडार का उपयोग करते हुए नवीन शब्दों की रचना की जाए पर इस बात को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि अति प्रचलित विदेशी शब्दों को लेना ही पड़ेगा; हाँ, भाषा विशेष की रुप और ध्वनि प्रवृत्ति के अनुकूल उनको किंचित् परिवर्तित करना आवश्यक हो सकता है।

जापानी—हारा-कीरी
मलय—साबू
चीनी—चाय
पीरुवीयन—कुनैन

९/५ इस प्रकार हिंदी का शब्द-भंडार देशी, विदेशी, आर्य, अनार्य आदि शब्दों से मिलकर बना है। हम जिन शब्दों को भारतीय आर्य-भाषाओं के मानते हैं अथवा अनार्य मानते है उनका भी उद्गम न जाने कहां से हुआ हो। यूरोपियन भाषाओं के मूल-स्थानों का पता लगाना वास्तव में बहुत कठिन होता है। हमने तो केवल इसी बात को माना है कि जो शब्द जिस भाषा में चल रहा है वह उसी का है। कुछ विद्वानों ने अनुमान लगाया है और उनकी मान्यता हिंदी शब्दों के प्रतिशत बारे में इस प्रकार है—

तत्सम शब्द	४४·००	३५·००	कुछ
तद्भव, अर्द्धतत्सम	५०·००	५९·००	विद्वान
फारसी आदि शब्द	४·००		
अंग्रेजी आदि	१·५०		
अन्य	·५०		
	१००·००		

इसका अभिप्राय यह हुआ कि भारतीय आर्य-भाषाओं से आए हुए शब्द लगभग ९४ प्रतिशत है, बाकी ६ प्रतिशत में और शब्द हैं। (इसका प्रयोग आप

भी करे —अपनी पाठ्य पुस्तक से कोई कहानी ले ले और सम्पूर्ण शब्दों को गिन डाले, लेकिन गिनते समय तत्सम, तद्भव, विदेशी आदि की गिनती भी करते जायँ। फिर देखें कि प्रतिशत क्या आता है। जैसे—

कहानी के संपूर्ण शब्द	तत्सम	तद्भव आदि	विदेशी
३६००	१५००	१९००	२००
इस हिसाब से प्रतिशत	४१·६	५२·८	५·६

प्रश्न तो यही होगा—

हिंदी शब्द-समूह के विभिन्न स्रोत बताइए और उपयुक्त उदाहरण दीजिए।

—:०:—

१०/१ भाषा की रचना शब्द-समुदाय पर निर्भर होती है, परन्तु शब्दों का प्रयोग करते समय उनका संस्कार करना पड़ता है, और यह संस्कार उस संबंध पर आश्रित होता है जो एक शब्द का दूसरे शब्द से तथा पूरे वाक्य से होता है। किसी भी वाक्य में शब्दों के ये संबंध देखे जा सकते हैं।

'राम की पुस्तक खो गई।'

यहां 'राम' और 'पुस्तक' एक दूसरे से संबंधित हैं; 'पुस्तक' और 'खो गई' का संबंध है, तथा पूरे वाक्य में 'राम' 'पुस्तक' 'खो गई' के अपने-अपने स्थान और संबंध हैं। संबंध का यह कार्य भाषा विशेष की प्रकृति के अनुरूप होता है। यदि हिंदी में कर्ता, कर्म और क्रिया का संबंध १, २, ३ माना जाय तो अंग्रेजी में यह क्रम १, ३, २ होगा। हिंदी में 'क्रिया' पद अंत में आता है और अंग्रेजी में 'कर्ता' एवं 'कर्म' के बीच में।

राम	घर	जाता है
१	२	३
Ram	goes	home
१	३	२

१०/१/१ रचना के उपयुक्त शब्द का संस्कार कर उसे 'पद' बनाया जाता है। ऐसा करने में कभी कुछ बढ़ाते हैं, कभी घटाते हैं, कभी परिवर्तित करते हैं और कभी कुछ नहीं करते—

√ खाना क्रिया के कुछ रूप देखिए—

\+ (बढ़ाना) 'खाना है'—मुझे तो खाना है तुम खाओ चाहे न खाओ।

\- (घटाना) 'खा' —पहले खा, फिर जा।

∾ (परिवर्तित) खाएगा—वह पीछे खाएगा।

O (कुछ नहीं) खाना —मुझे तो नहीं खाना।

इस बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि अर्थ-तत्त्व में संबंध-तत्त्व का योग +, —, ∾, अथवा O हो सकता है। जब किसी शब्द को संबंध-तत्त्व

से युक्त कर दिया जाता है तभी वह वाक्य में रखने योग्य होता है। साथ ही यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि तैयार किए हुए पद का वाक्य में कहाँ स्थान है। कुछ भाषाएं तो ऐसी होती हैं कि स्थान का ध्यान न रखकर भी प्रयोग किया जा सकता है जैसे संस्कृत भाषा—रामस्य पुस्तकमिदम्, इदम् पुस्तकम् रामस्य, पुस्तकमिदम् रामस्य आदि—ये भाषाएं संश्लिष्ट होती हैं अर्थात् शब्द का संबंध-तत्त्व उसके साथ-साथ चलता है, दूर नहीं किया जा सकता, परन्तु हिन्दी में बात दूसरी है—संबंध-तत्त्व अलग से जोड़ा जाता है तथा कहीं-कहीं स्थान विशेष से उपलब्ध होता है—

राम ने रावण मारा	('रावण' को उसके स्थान से 'कर्म' का रूप मिल रहा है)
रावण ने राम मारा	(यहाँ स्थान बदलने से ही 'राम' को 'कर्म' का रूप मिल गया)

पर अर्थ का अनर्थ हो गया। हिंदी में शब्दों का स्थान बहुत कुछ अर्थ रखता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक भाषा में शब्दों के पद बनाने तथा वाक्य में उनकी स्थापना उस भाषा विशेष की प्रकृति के अनुरूप होता है, पर इसमें सन्देह नहीं कि प्रयोग करते समय हमें रचना के कुछ नियमों का ध्यान अवश्य रखना पड़ता है।

१०/१/२ पद को हम दो भागों में बांट सकते हैं—

पद = अर्थ-तत्त्व + संबंध-तत्त्व

$(+, -, \sim, 0)$

इन दोनों में से प्रत्येक को एक पदग्राम अर्थात् morpheme कहा जाता है। भाषा-शास्त्र में पद के दोनों भाग समान महत्त्व के होते हैं अतः दोनों की संज्ञा एक ही है। संबंध-तत्त्व को प्रगट करने की अनेक क्रियाएं होती हैं, जैसे—

१. संधियों के द्वारा बनाया गया रूप	— प्रत्येक
२. सामासिक रूप	— माता-पिता
३. प्रत्यय द्वारा प्रतिपादित रूप	— सशक्त, विषमता
४. विभक्तियों के द्वारा उपलब्ध रूप	— राम का
५. आन्तरिक परिवर्तन के द्वारा प्राप्त रूप	— लावण्य
६. शून्य रूप	— राम (कर्ता, कर्म आदि में)

इस स्थान पर हम इन पद्धतियों में से केवल कुछ क्रियाओं का ही विवेचन करेंगे।

(iv) मूसल + धार = मूसलाधार ('आ' ध्वनि का आगम)
(v) मनः + कामना = मनकामना (विसर्ग लोप)
(vi) उस + को = उसे (अ + को = ए)
(vii) तुम + को = तुम्हें (अ + को = हें)
(viii) अन्न + दाता ('न्' का लोप)
(ix) मार् + डाला = माड्डाला ('र्' अगले वर्ण में परिवर्तित)।

जैसे हिंदी में संधि की अपनी प्रवृत्ति है उसी प्रकार हर भाषा में देखी जा सकती है। अंग्रेजी में Cannot मिलकर कैनौट हो जाते हैं 'कैन नौट' नहीं, कुछ लोग 'कांट' ही बोलते हैं और Cant लिखते हैं।

१०/२/४ वर्णों में संधि होना बहुत ही स्वाभाविक है और ध्यान देने पर इनके कुछ नियम बनाए जा सकते हैं। संस्कृत में तो संधि-व्यापार बहुत ही व्यवस्थित है। हिंदी में संधि के नियम कठिनता से बन पाते हैं, और अपवाद इतने देखे जाते हैं कि नियमों का कोई महत्त्व ही नहीं रह पाता। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि संधि-क्रिया निरंतर होती रहती है। एक सामान्य प्रवृत्ति यह देखी गई है कि जब दो शब्दों में से पहले शब्द के अंत में ह्रस्व स्वर आता है तो वह नष्ट सा होता दिखाई देता है या तो उसे हम दीर्घ रूप में बोलें या विशेष रूप से ठहरें तब तो उसका अस्तित्व रहता है अन्यथा नष्ट हो जाता है। हम बोलते हैं—'राम्से', 'राम्को', 'राम्ने'। यदि कोशिश करें तो राम् (अ) से, राम् (अ) को, राम् (अ) ने, बोल पाएंगे। शब्द-निर्माण में संधि की प्रवृत्ति निरंतर देखी जाती है। हिंदी में अनेक शब्द संस्कृत से तत्सम रूप में ले लिए गए हैं और उनका उसी रूप में प्रयोग होता है—

प्रत्येक, विद्यालय, विद्यार्थी, भावावेश, मनोकामना, पुनरावलोकन, अल्पाहार, दिनेश, रमेश, अत्याचार, महात्मा।

पर यह एक विचारणीय प्रश्न है कि क्या हिन्दी का संधि-विधान भी इनके अनुरूप है। विद्वानों का मत है कि हिंदी में प्रयुक्त तद्भव शब्दों को हिंदी की वृत्ति के अनुरूप माना जा सकता है। तत्सम शब्द तो एक प्रकार से उधार लिए गए शब्द हैं—पर पूर्ववर्ती भाषाओं से लिए गए शब्द किस सीमा तक उधार-शब्द कहे जा सकते हैं। तथ्य तो यह है कि किसी भी भाषा में अपना क्या है इस प्रश्न का उत्तर कठिन है, न जाने कितने प्रकार के सम्मिश्रणों से भाषा का वर्तमान रूप बनता है। हिंदी भी इसका अपवाद नहीं हो सकती, और हिंदी के संधि-नियम भी कुछ इसी प्रकार के हैं। इन नियमों को नियम न कह कर उच्चारण-प्रवृत्ति कहना अधिक उपयुक्त होगा।

११/२/५ संस्कृत व्याकरण के अनुसार संधि के तीन मुख्य भेद हैं—

(१) स्वर-संधि—विद्या + आलय = विद्यालय (आ + आ)
(२) व्यंजन-संधि—सत् + जन = सज्जन (त् + ज्)
(३) विसर्ग-संधि—निः + कपट = निष्कपट (: + क, ष्क)

इसके अनेक भेद-प्रभेद हैं। स्वर संधि के ही सात भेद होते हैं—दीर्घ, गुण, वृद्धि, यण्, अयादि, चतुष्टय, पूर्वरूप और प्रकृतिभाव। कुछ और उदाहरण दिए जा रहे हैं—

स्वर-संधि :

कुश + आसन = कुशासन
नदी + ईश = नदीश
सदा + एव = सदैव
यदि + अपि = यद्यपि

व्यंजन-संधि :

सत् + धर्म = सद्धर्म
शरत् + चन्द्र = शरच्चन्द्र
दिक् + गज = दिग्गज
सम् + तोष = संतोष

विसर्ग-संधि :

दुः + परिणाम = दुष्परिणाम
निः + गुण = निर्गुण
पुनः + आगत = पुनरागत
मनः + हर = मनोहर

१०/३ आकृति की दृष्टि से भाषाओं को कई प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है। प्रचलित वर्गीकरण के विचार से भाषाएं—(१) सावयव तथा (२) निरवयव। दो वर्गों में बांटी जाती हैं। इन्हें योगात्मक और अयोगात्मक भी कहा जाता है। इस वर्गीकरण का आधार पद-रचना है। अर्थ-तत्त्व और संबंध-तत्त्व को किस प्रकार संयुक्त किया जाता है—यही इसके अन्तर्गत आता है। जो भाषाएँ अयोगात्मक अथवा निरवयव होती हैं उनमें किसी प्रकार का योग नहीं होता। संबंध-स्थापन के लिए स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले शब्दों का प्रयोग किया जाता है, इन शब्दों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, हाँ, स्थान की दृष्टि से इधर-उधर किया जाता है जिससे अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। सभी शब्दों के स्वतन्त्र होने से भाषा बहुत क्लिष्ट हो जाती है और सीखने में काफी समय लगता है।

'चीनी' एक ऐसी ही भाषा है। पर भाषाओ का एक अन्य वर्ग इस प्रकार का होता हे जिसमे अर्थ तथा सबध नामक तत्त्वो को मिलाने की क्रिया विशेष होती हे। विश्व की अधिकाश भाषाए इसी कोटि मे आती है और योगात्मक अथवा सावयव भाषाएं कहलाती हे। अर्थ-तत्त्व और सबध-तत्त्व का यह योग तीन तरह से हो सकता है—

(१) जब दोनो तत्त्वो को अलग रखना सभव नही हो पाता।
(२) जब अर्थ तत्त्व वाले अ श मे कुछ विकार उत्पन्न हो जाता है।
(३) जब दोनो तत्त्वों की सत्ता स्पष्ट झलकती है।

इस बात को ध्यान मे रखते हुए विद्वानो ने इन भाषाओ को

(१) समास-प्रधान अथवा प्रश्लिष्ट योगात्मक,
(२) विभक्ति प्रधान अथवा श्लिष्ट योगात्मक और
(३) प्रत्यय प्रधान अथवा अश्लिष्ट योगात्मक।

कहा है।

१०/३/१ समास-प्रधान भाषाएं अनेक शब्दों को खंड रूप मे प्रस्तुत करती है। प्राय: चेरोकी भाषा का उदाहरण दिया जाता है जिसमे 'नातेन' का 'ना', 'आमोखल' का 'धोलि' और 'निन' का 'निन' देखे जा सकते है। नातेन आमोखल निन का 'नाधोलिनिन' रह जाता है। हिंदी समास-प्रधान भाषा नही है पर हिंदी मे 'समास' होते है। संस्कृत का समास बाहुल्य तो ससार-प्रसिद्ध है। कादम्बरी की समास-रचना देखिए और आश्चर्यचकित होते रहिए पर समास-प्रधानता भारतीय भाषाओ का स्वरूप नही है। समास का अपना अस्तित्व है। दो या अधिक पदो के योग को समास कहते है और इनका प्रयोग प्राचीनकाल से होता आया है। संस्कृत की बात तो कही जा चुकी है, मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओ से भी समास का प्रयोग होता था। संस्कृत व्याकरण के अनुसार हिंदी मे ६ प्रकार के समासो की बात कही जाती है।

१०/३/१/१ **द्वन्द्व समास**—इसमे 'और' शब्द का लोप होता है। इस समास की विशेषता यह है कि इसमे सभी पद प्रधान होते है। कही-कही 'और' के स्थान मे 'अथवा' का भी लोप हो जाता है, और कभी सामासिक पदो के अतिरिक्त तत्सबधी अन्य अर्थ भी ध्वनित होता है। इस प्रकार इसके तीन भेद देखे जा सकते है—

(१) इतरेतर द्वंद्व — सीताराम = सीता और राम
बेटाबेटी = बेटा और बेटी
गुरुशिष्य = गुरु और शिष्य

(२) वैकल्पिक द्वंद्व— मरना-जीना = मरना अथवा जीना
पाप-पुण्य = पाप अथवा पुण्य

(३) समाहार द्वंद्व — दाल-रोटी = (उदरपूर्ति की सभी वस्तुएँ)
रुपया-पैसा = (द्रव्य मात्र)

१०/३/१/२ द्विगु—इस समास में पहला पद संख्यावाचक विशेषण होता है। कभी संख्यावाचक शब्द का रूप भी कुछ परिवर्तित हो जाता है—

दो + लड़ी = दुलड़ी (दो→दु)
तीन + पाई = तिपाई (तीन→ति)
पाँच + मुखी = पंचमुखी (आ→अ)
नव + ग्रह = नवग्रह (अ→अ—परिवर्तन नहीं)
सात + नाज = सतनजा (आ→अ; अ→आ)

१०/३/१/३ तत्पुरुष—इसमें उत्तर पद प्रधान होता है। एक प्रकार से द्विगु समास भी इसी में आ जाता है क्योंकि पहला पद तो विशेषण मात्र है. प्रमुखता दूसरे पद की ही है। कर्मधारय समास (वर्णन आगे किया गया है) भी इसी का एक अंग है। परन्तु हिंदी के विद्वान तत्पुरुष को अलग ही रखते हैं। इसमें विभक्ति चिह्नों का लोप होता है—

चिड़ीमार — चिड़िया को मारने वाला
शोकाकुल — शोक से आकुल
रसोईघर — रसोई के लिए घर
ऋणमुक्त — ऋण से मुक्त
राजपुत्र — राजा का पुत्र
वनवास — वन में वास

हिन्दी के कुछ तत्पुरुष समास जैसे—

पानी का घाट—पनघट (पानी~पन)
घोड़ों की दौड़—घुड़दौड़ (घोड़ा~घुड़)
आम का चूर—अमचूर (आम~अम)

१०/३/१/४ कर्मधारय—इसे विशेषण और विशेष्य का समास कहा जाता है. निश्चय ही उत्तरपद प्रधान होता है।

परम + आत्मा = परमात्मा
दीर्घ + आकार = दीर्घाकार

कुछ परिवर्तन भी मिलते हैं—

नीला + कमल = नीलकमल (आ→ अ)
कनी + अँगुरी = कनँगुरी (ई→अ)

१०/३/१/५ **बहुव्रीहि**—इस समास मे अन्य पद प्रधान होता है। दोनो या अधिक पदो को छोड़कर कोई अन्य पद ही लक्षित होता है—

दशानन = (न 'दस' मे कोई मतलब है और न 'आनन मे'—
समस्तपद का अर्थ है दस हैं मुख जिसके–रावण)

नीलकठ = ('नील' और 'कठ' के अर्थो को छोडकर नीला है कठ
जिसका—शिव अर्थ होता है)

चक्रपाणि = (चक्र है पाणि मे जिसके अर्थात् विष्णु)

१०/३/१/६ **अव्ययीभाव**—इसमे पहला पद अव्यय होता है, कभी दोनो पद अव्यय होते है और कभी द्विरुक्त शब्दो के बीच मे 'ही' आदि आ जाते हैं—

(i) पहला पद अव्यय—प्रतिदिन, यथाशक्ति,
(ii) दोनो पद अव्यय (द्विरुक्ति)—धीरे-धीरे, धडाधड, दिन-दिन,
(iii) 'ही' आदि का प्रयोग—मन ही मन, आप ही आप।

१०/३/१/७ इस प्रकार समासो के सभी भेद पदो पर आधारित है—

(१) दोनो पद प्रधान	—	द्वंद्व	— मा-बाप
(२) उत्तर पद प्रधान	—	द्विगु	— नवग्रह
		कर्मधारय	— लॅवटग
		तत्पुरुष	— पन-घट
(३) अन्य पद प्रधान	—	चद्रशेखर	— शिव
		चतुरानन	— ब्रह्मा
(४) अव्यय पद	—	एक या अधिक	— प्रतिदिन
			धीरे-धीरे

भाषा-शास्त्र की दृष्टि से समास प्रकरण का इतना ही महत्त्व है कि पद-रचना मे इन सभी प्रकार की समास-प्रक्रियाओ का आश्रय आवश्यकतानुसार लिया जा सकता है।

१०/३/२ **प्रत्यय**—प्रत्यय उस अक्षर या अक्षर-समूह को कहते है जो शब्द रचना के निमित्त शब्द के आगे लगाया जाता है। इसमे यदा-कदा मूल शब्द के रूप मे कुछ परिवर्तन भी हो जाता है। हिंदी मे सस्कृत के अनेक प्रत्यय आगए हैं—कुछ उसी रूप मे है, कुछ मे परिवर्तन हो गए है। यद्यपि हिंदी मे प्रत्ययो की सख्या काफी है परन्तु हिंदी प्रत्यय प्रधान भाषा नहीं है, इस कोटि मे तो

दक्षिण भारत की कुछ भाषाएं आती हैं। हिंदी में हमें तीन प्रकार के प्रत्यय दिखाई देते हैं—

(१) **तत्सम प्रत्यय**—इनका स्वरूप संस्कृत के प्रत्ययों के समान ही है और उनका प्रयोग तत्सम, तद्भव, विदेशी आदि शब्दों के साथ किया जाता है। इसका विशेष विवरण तद्धित और कृत प्रत्ययों के अन्तर्गत किया जाएगा।

(२) **तद्भव तथा देशी प्रत्यय**—इनकी संख्या बहुत बड़ी है, कुछ नीचे दिए जा रहे हैं—

अक्कड़	—	भुलक्कड़	('भूलना' से)
अन्त	—	गढ़न्त	('गढ़ना' से)
आका	—	लड़ाका	('लड़ना' से)
आलू	—	झगड़ालू	('झगड़ा' से)
ईला	—	रंगीला	('रंग' से)
ड़ा	—	टुकड़ा	('टूक' से)
री	—	कोठरी	('कोठा' से)
सरा	—	तीसरा	('तीन' से)

(३) **विदेशी प्रत्यय**

कार	—	पेशकार	('पेश' से)
खाना	—	गाड़ीखाना	('गाड़ी' से)
ची	—	देगची	('देग' से)
बाजी	—	कबूतरबाजी	('कबूतर' से)

१०/३/२/१ **कृदंत और तद्धित**—संस्कृत धातुओं के पीछे जो प्रत्यय लगाए जाते हैं उन्हें 'कृत' प्रत्यय कहते हैं। इनसे जो शब्द बनते हैं उन्हें 'कृदंत' कहते हैं। धातुओं को छोड़कर अन्य शब्दों के आगे प्रत्यय लगाकर जो शब्द बनते हैं उन्हें 'तद्धित या 'तद्धितान्त' कहा जाता है।

१०/३/२/१/१ **कृदंत**—(धातुओं के साथ योग)

लिख (ना)	लिखावट	('आवट' प्रत्यय)
छल (ना)	छलावा	('आव' प्रत्यय)
पूज (ना)	पूजक	('क' प्रत्यय)
खा (ना)	खाकर	('कर' प्रत्यय)
उजाड़ (ना)	उजाड़ू	('ऊ' प्रत्यय)
खा (ना)	खौंआ	('औंआ' प्रत्यय)
कस (ना)	कसौटी	('औटी' प्रत्यय)

१०/३/२/१/२ तद्धित (धातुओं को छोड़कर अन्य शब्द भेदों के साथ योग)—

दूध	दूधवाला	(संज्ञा पद)
चतुर	चतुराई	(विशेषण पद)
धड़	धड़क	(अव्यय पद)
तेल	तेली	(संज्ञा पद)
बत्तीस	बत्तीसी	(विशेषण पद)
धम	धमक	(अव्यय पद)

१०/३/३ कृदंत और तद्धित का भेद हिंदी के लिए इतना आवश्यक नही है। संस्कृत मे इनका विशेष महत्त्व रहा है, हिंदी में तो इनका आभास सा भी होता नहीं मालुम होता। जब वैयाकरण विशेष रूप से बताते हैं, तब इन प्रत्ययों के बारे में भेद दिखाई देता है। बहुत से प्रत्ययों को संस्कृत शब्दों से संबंधित करने का प्रयत्न किया गया है। जैसे—

अन्त (रटन्त) 'शतृ' प्रत्यय से
आका (लड़ाका) 'आपक' प्रत्यय से
आव (बचाव) 'त्व' प्रत्यय से
आहट (चिकनाहट) 'वृत्ति' से
कूटा (कलूटा) 'वृत्' से
ली (टिकली) 'ल' से

१०/४ रचना की दृष्टि से हमें, इस प्रकार कई विधियां दिखाई देती हैं।

संधि—दो शब्दों का योग (परिवर्तन सहित)
समास—दो या अधिक पदों का योग (परिवर्तन की कम संभावना)
प्रत्यय—कृदंत अथवा तद्धित (विभिन्न शब्दों का निर्माण)

एक बात अवश्य याद रखनी चाहिए कि ये विधियां संस्कृत पद-रचना में बहुत व्यवस्थित रूप में चलती है और बँधे हुए नियमों का अनुगमन करती है, परन्तु हिंदी में इनकी गति निराली है और संस्कृत से संबध स्थापित करने में अनेक युक्तियाँ लगानी पड़ती हैं। विविध विद्वान अपनी-अपनी प्रणाली से इन्हें सिद्ध करते है। इस प्रसंग में यह बात याद रखनी चाहिए कि हिंदी की प्रवृत्ति उसकी अपनी है और इसी से पद अथवा वाक्य रचना में वह अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कार्य करती है। हिंदी के समास, संधि और प्रत्यय सभी अपनी विशेषता रखते हैं—इन्हें समझाने के लिए ही संस्कृत के उदाहरणो का सहारा लिया जाता है। ऊपर जो विवरण दिया गया है उसमें संस्कृत के उदा-

हरणों से इन विशिष्ट शब्दों को समझाया गया है और हिन्दी के अतिरिक्त उदाहरण देकर हिंदी के स्वरूप को भी प्रस्तुत किया गया है।

प्रश्न :

१. हिंदी-रचना की विशेषताएं बताइए।

२. हिंदी के कुछ प्रत्यय बताते हुए उनके उदाहरण दीजिए।

३. टिप्पणियां लिखिए—

(i) तद्धित

(ii) कृदंत

—:o:—

११/१ हमारे विचारों की अभिव्यक्ति के अनेक साधन हैं। आमने-सामने हम संकेत तथा वाणी के द्वारा अपने विचार दूसरों तक पहुँचा सकते हैं, किन्तु दूर होने पर हमें अन्य साधनों की आवश्यकता होती है। आजकल तार या टेलीफोन या बेतार द्वारा यह कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। दूरी के अतिरिक्त समय का अन्तर भी वाणी द्वारा विचाराभिव्यक्ति में बाधक होता है। आजकल तो ऐसे भी साधन उपलब्ध हैं जिनके द्वारा एक समय की बात दूसरे समय उसी प्रकार सुनी जा सकती है। टेप-रिकार्डर एक ऐसा ही साधन है और इसका काफी उपयोग होने लगा है। पर बहुत समय से हमारे पास एक अन्य साधन ऐसा भी रहा है जिस पर दूरी तथा समय का अंतर अपना प्रभाव नहीं डालता— हम अपना संदेश हजारों मील की दूरी पर भेज सकते हैं, तथा हम अपने पूर्वजों की बातें बहुत समय के लिए सुरक्षित कर सकते हैं। इस साधन का प्रयोग न जाने कितने वर्षों से हम करते आए हैं और निरंतर करते रहते हैं। हमारा विद्याध्ययन ही इस ज्ञान की प्राप्ति से प्रारंभ होता है। यह ज्ञान है लिखने की कला: 'लिपि' इसी से संबंधित है। जिस लिपि में यह पुस्तक लिखी गई है अथवा जिस लिपि में आप इस पाठ के अंत में दिए गए प्रश्नों का उत्तर लिखेंगे अथवा जिसका प्रयोग आपके गुरुजी श्यामपट्ट पर करते हैं इस लिपि का नाम है 'देवनागरी लिपि'। यह स्वाभाविक है कि आपके अध्ययन में इससे संबद्ध लिपि का किंचित ज्ञान आपको उपयोगी सिद्ध होगा।

११/२ हमारे देश में बहुत समय से लिपि का प्रयोग होता आया है। लेखन-कला अपना एक निश्चित स्थान रखती है और इस बात पर जोर दिया जा रहा है कि हमारे द्वारा लिखा गया न केवल सुवाच्य हो वरन सुन्दर भी हो। अन्यत्र भी लिपि को कलात्मक बनाने की ओर लोगों का ध्यान रहा है। रोमन, अरबी, चीनी, बंगला, नागरी आदि लिपियों में इस प्रकार की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि लिखने की क्रिया का आरंभ बहुत ही सीधे चिन्हों से शुरु हुआ, उदाहरण के लिए 'क' के लिए '+' संकेत कहा जाता है। '१' के लिए '—' संकेत की कल्पना की जाती है। आज भी बिना पढ़े-लिखे लोग लकीर खींच कर गिनने की क्रिया सम्पन्न करते हैं। हमारे घर के पास लकड़ी की एक

टाल में जब लकड़ियां तुलती थीं तो एक तौल के लिए दीवाल पर एक काली रेखा बनादी जाती थी। इस दीवाल की सफेदी भी बराबर होती रहती थी, क्योंकि कुछ ही दिनों में बनाई गई काली (।) लकीरें दीवाल के उज्ज्वल स्वरुप को श्यामिल आभा से आच्छादित कर देती थीं। प्राचीन काल में लिपि का कुछ भी रूप रहा हो परन्तु आधुनिक काल में वह बहुत कुछ व्यवस्थित दिखाई पड़ता है। कुछ देशों की लिपियां, उनके संकेतों का नामकरण और उपयोग बहुत कुछ वैज्ञानिक है। जिस लिपि का हिन्दी लिखने में प्रयोग किया जाता है वह देवनागरी लिपि भी इन गुणों से परिपूर्ण है।

११/३ जिन विद्वानों ने प्राचीन लिपियों का अध्ययन किया है उनका कहना है कि शिलालेखों आदि के आधार पर हमारे देश में कई लिपियां प्रचलित थीं। ईसवी सन से कई शताब्दियों पूर्व इनका अस्तित्व प्रमाणित होता है। इनमें ब्राह्मी लिपि बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसी लिपि से विकसित होकर भारत की आधुनिक लिपियां अपने-अपने स्वरुपों को प्राप्त हुई हैं। दूसरी लिपि जो उपलब्ध हुई है और जिसका अस्तित्व आज समाप्त हो चुका है, खरोष्ठी है। कुछ लोग इस लिपि को अभारती मानते हैं। एक तीसरी लिपि का और पता लगा है जो सिन्धु-घाटी में उपलब्ध होने के कारण सिंधु-घाटी की लिपि कही जाती है। कुछ लोग इसे ब्राह्मी लिपि का ही पूर्व स्वरुप मानते हैं। इस लिपि का अध्ययन अभी तक चल रहा है, और इसे पढ़ने में कुछ सफलता भी मिलने लगी है।

११/४ देवनागरी लिपि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्राह्मी लिपि के संबंध में कुछ बातें जानना आवश्यक है। प्रसिद्ध राजस्थानी विद्वान गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के मतानुसार यह लिपि ईसा से ५०० वर्ष पूर्व व्यवहृत होती थी और इसके अवशेष अजमेर जिला से प्राप्त हुए हैं। इस लिपि का नाम बहुत सुन्दर है और ब्रह्मा तथा ब्रह्म से संबंधित है। इसी आधार पर कुछ लोग इसे ब्रह्मा जी द्वारा निर्मित मानते हैं और कुछ इसे ब्रह्म अथवा वेद की रक्षा के हेतु किए गए आविष्कार के रूप में स्वीकार करते हैं। ऐसे भी विद्वानों की कमी नहीं जो ब्राह्मी को विदेश से आया हुआ मानते हैं। यूनानी, सामी, चीनी आदि कई अभारतीय लिपियां ब्राह्मी लिपि का स्रोत बताई जाती हैं, परन्तु विद्वानों का बहुमत इसे भारतीय मानने के पक्ष में है। उनका कथन है ब्राह्मी लिपि भारतवर्ष के निवासियों की अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वांग सुन्दरता से चाहे इसका कर्ता ब्रह्म देवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा हो चाहे साक्षर ब्राह्मणों की लिपि होने से ब्राह्मी कहलाई हो और चाहे ब्रह्म की रक्षा का सर्वोत्तम साधन होने से इसको यह नाम दिया गया हो।

११/४/१ ब्राह्मी लिपि बहुत समय तक एक रूप मे चलती रही, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ समय उपरात इसकी दो शाखाएं हो गईं। उत्तरी शाखा की लिपि का उत्तरी भारत मे प्रचार रहा और दक्षिणी शाखा की ब्राह्मी दक्षिण भारत मे प्रचलित हुई। उत्तरी शाखा की विकसित लिपियो के कालक्रमानुसार गुप्त, कुटिल, शारदा आदि नाम पडे और यही विकसित होकर देवनागरी अथवा नागरी, गुजराती, बगला आदि लिपियो के रूप मे प्रचलित हुई। दक्षिणी शाखा से ग्रन्थ, तमिल, तेलगु, आदि लिपिया सबधित ह। इन सभी लिपियो के नमूने आज भी देखने को मिल सकते है और लिपि के क्रमिक विकास पर उपयोगी प्रकाश डालते ह।

११/४/२ ब्राह्मी लिपि ही दसवी शताब्दी तक आते-आते विभिन्न लिपियो मे परिवर्तित हो गई। इनमे एक रूप प्राचीन नागरी का भी था। अधुना इसी से उत्पन्न देवनागरी हमारी जानकारी का मुख्य विषय ह। 'देव' को कुछ लोग 'नागरी' का विशेषण मानकर देवभाषा सस्कृत के लिए व्यवहृत लिपि को देव-नागरी कहते है। नागरी क्यो ? कुछ लोगो का मत हे कि यह लिपि नगरो मे प्रचलित थी, कुछ इसे नागर ब्राह्मणो की लिपि मानते हे और कुछ लोग तो देवनागरी की उत्पत्ति तात्रिक चिह्न देवनगर से प्रतिपादित करते है। कुछ भी हो इसका स्वरूप ईसा की दसवी शताब्दी मे बनने लगा था। वैसे तो भाषा और लिपि दोनो परिवर्तित होते रहते है परन्तु लिपि का परिवर्तन अपेक्षाकृत धीमा होता हे। फिर भी प्राचीन लिपियो को पढना एक विशेष प्रकार की कला ह और बहुत से लोग बलवती इच्छा होने पर भी प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थो का आनन्द लेने से वचित रह जाते है। लिपि-चिह्नो मे परिवर्तन होने की क्रिया का भी वैज्ञानिक आधार बनाया गया है और व्यवहार को भी उसमे सम्मिलित किया गया है। यहा इसके विस्तार मे जाने की आवश्यकता नही परन्तु निश्चित रूप से लिपि मे परिवर्तन की क्रिया अबाध गति से चलती रहती है। नागरी का जो स्वरूप हमे इस समय मिलता हे वह आठ सौ नौ सौ वर्ष पुराना है।

११/५ किसी लिपि की उपयुक्तता इसमे हे कि वह किसी भाषा विशेष की समस्त ध्वनियो को ज्यो का त्यो अ कित कर दे। ससार की अधिकाश लिपिया इस आदर्श तक नही पहुँचती। वैसे ऐसी लिपि का प्राप्त करना तो बहुत कठिन है जिसमे विश्व की सभी भाषाओ के ध्वनि-सकेत प्राप्त हो सके। अंतर्राष्ट्रीय ध्वनि-वर्णमाला भी इस आदर्श तक नही पहुंच पाती। पर जहा तक हमारी भाषा का प्रश्न हे अथवा भारतवर्ष मे प्रचलित भाषाए ह, उनकी प्राय. सभी ध्वनिया नागरी लिपि द्वारा व्यक्त की जा सकती है। दक्षिण की कुछ ध्वनियो को लिपि-बद्ध करने मे अवश्य कठिनाई होती है। देवनागरी लिपि की यह विशेषता हे कि

उनका कहना था कि स्वरों के विभिन्न रूप समाप्त कर दिए जांय और केवल 'अ' स्वर की बारहखड़ी से ही काम चलाया जाय। जैसे 'क' आदि व्यंजनों की बारहखड़ी है उसी प्रकार 'अ,' 'आ.' 'अि,' 'अु,' आदि रखे जांय, इसी प्रकार 'ख' 'घ' 'छ' आदि जो सप्राण ध्वनियां हैं अर्थात् जिनमें 'ह' ध्वनि सुनाई देती है उन्हें पूर्व वर्ण में 'ह' मिलाकर लिखा जाय। 'ख' को 'क्ह' 'घ' को 'ग्ह' 'छ' को 'च्ह' का रूप दिया जाय। उन्होंने संपूर्ण वर्णमाला में २० वर्ण और १० मात्राएं रखने का सुझाव दिया था। राष्ट्रभाषा प्रचारसमिति वर्धा के द्वारा प्रकाशित साहित्य में इसकी अनेक बातें मान ली गईं। उत्तरप्रदेश की सरकार ने भी इस ओर प्रयत्न किए और आचार्य नरेन्द्रदेव के सभापतित्व में एक परिषद् की स्थापना की। इनकी सिफारिशों में 'इ' की मात्रा को वैज्ञानिक रूप देना प्रमुख है। ध्वनि के अनुसार 'मात्रा' प्रमुख वर्ण के बाद लगानी चाहिए। 'कि' में पहले मात्रा लिखी जाती है बाद में वर्ण: यह दोषपूर्ण हैं।—मात्रा का स्थान बाद में होना चाहिए। इस परिषद् का कहना था कि 'इ' की मात्रा 'ई' की मात्रा के अनुसार बाद को ही लगाई जाए पर खड़ी पाई की लम्बाई को आधा कर दिया जाय, 'कीʼ–रूप रखा जाय। इसमें बहुत कठिनाई हुई और बालकों के लिए तो यह क्रिया नितान्त अव्यावहारिक थी। इसी प्रकार 'क्रम' को 'कर्म,' 'स्कूल' को 'स्कूल' आदि लिखने का परामर्श दिया गया। इससे वर्णमाला की संख्या और भी बढ़ गई। सरकार ने इस लिपि को चलाने की चेष्टा भी की और राजकीय प्रकाशन प्रस्तुत किए, पर जैसे कालेलकर-सुधारों को जन-बल प्राप्त नहीं हुआ इस प्रकार उसी कमेटी के सुधार भी प्रचलित नहीं हो सके।

११/५/३ अभी कुछ ही दिनों पूर्व कई वर्ष विचार-विमर्श करने के उपरान्त भारत-सरकार द्वारा हिन्दी वर्णमाला का जो रूप स्वीकार किया गया है वह प्रायः वही है जो पीढ़ियों से प्रचलित है। दो चार अक्षरों की आकृति में अन्तर अवश्य आ गया है।

स्वर :

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ऌ ए ऐ ओ औ अं अः

मात्राएं :

× ा ि ी ु ू ृ े ै ो ौ ं :

व्यंजन : ❀

क ख ग घ ङ

च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न

प फ ब भ म

य र ल व

श ष स ह ड़ ढ़ ळ

क्ष त्र ज्ञ

अंक :

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ०

(*) 'ख' में नीचे के दोनों हिस्सों को मिला दिया गया है। 'ध,' 'भ' को घुंडियों से शुरू किया गया है।

११/५/४ स्वीकृत लिपि के संबंध में कुछ स्पष्टीकरण भी दिए गए हैं परन्तु यहां विस्तार की आवश्यकता प्रतीत नही होती। इस स्थान पर तो इतना ही अभीष्ट था कि विद्यार्थियों को उस लिपि का कुछ ज्ञान हो जाय जिसका वे जीवन पर्यंत प्रयोग करते रहेंगे।

११/६ लिपि का आविष्कार होने में न जाने कितना समय लगा होगा और इसके वर्तमान स्वरूप का विकास कितने स्तरों पर हुआ होगा परन्तु हमें तो एक ऐसा साधन मिल गया है जो हमारे विचारों को स्थायी बनाता है तथा अन्य व्यक्तियों के विचारों को भी हम जान सकते हैं। एक समय था जब विद्या सुन कर ही प्राप्त की जाती थी, पुस्तकों का अभाव था, गुरु की वाणी द्वारा श्रवणेंद्रिय से हम जो ग्रहण करते थे उसकी पुनरावृत्ति ही हमें विभिन्न ज्ञान-विज्ञान में दीक्षित करती थी। 'वेद' का एक पर्यायवाची 'श्रुति' भी है और यह शब्द वेद-ज्ञान की उसी क्रिया की ओर संकेत करता है। कुछ लोगो का यह भी मानना है कि विद्या कंठाग्र होनी चाहिए; जो बात पूछी जाय उसका तत्काल उत्तर देना चाहिए। आज के युग में यह बात संभव नहीं। आधुनिक युग मे तो हमें बराबर पुस्तकों को देखना पडता है, अपने विचारों को लिखकर रखना पड़ता है और इस प्रकार लिपि का उपयोग प्रायः सभी अवस्थाओं में करना पड़ता है। 'पुस्तकालय' हमारी शिक्षा का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है। देश-विदेश के विविध ग्रन्थों द्वारा उपार्जित ज्ञान ही हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है इस सम्पूर्ण सामग्री की प्राप्ति 'लिपि' नामक कला द्वारा ही संभव है।

११/७ हमारे देश में अति प्रचलित देवनागरी लिपि संस्कृत का सम्पूर्ण वाङ्-मय तो संचित किये हुए है ही, साथ ही हिन्दी, मराठी आदि स्वीकृत भाषाएं भी इसी लिपि में लिखी जाती हैं। विधान के अनुसार भी इस लिपि को गौरवमय स्थान प्राप्त है। देश और विदेश के अनेक ग्रन्थों के अनुवाद देवनागरी लिपि में प्रस्तुत किए जा रहे हैं। इस लिपि को जानकर आपको भी अपरिमित ज्ञान की